अखण्ड विश्वम्भरानन्द ज्ञान सरिता

वर्ष: 7 अर्द्ध वार्षिक अंक: 2

गुरू पूर्णिमा, आषाढ़ शुक्ल विक्रम संवत 2080, 3 जुलाई 2023

श्री अखण्ड विश्वम्भरानन्द संत आश्रम

वेदान्त नगर, सीपरी बाजार, झाँसी (उ.प्र.)

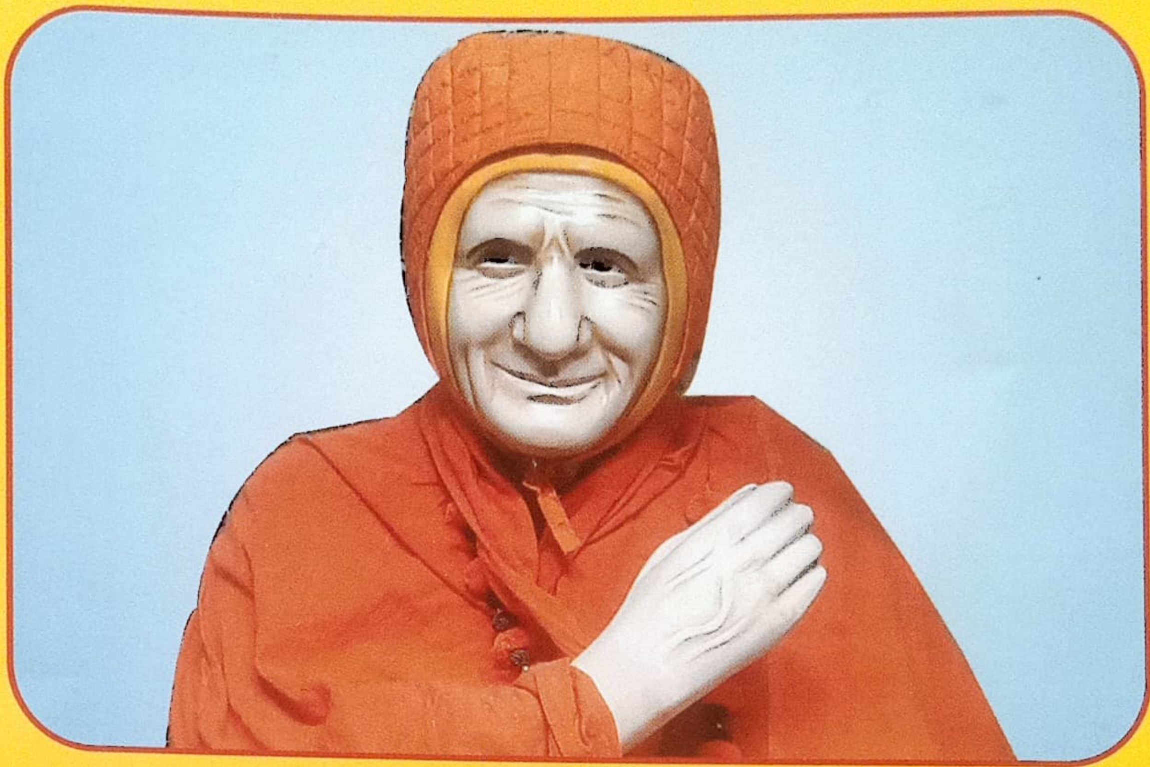

पूज्य स्वामी जी अखण्डानन्द जी महाराज (पीली कोठी)

प्रार्थना

कर प्रणाम तेरे चरणों में लगता हूँ अब तेरे काज । पालन करने को आज्ञा तव मैं नियुक्त होता हूँ आज।।
अन्तर में स्थित रहकर मेरे बागडोर पकड़े रहना। निपट निरंकुश चचंल मन को सावधान करते रहना।।
अन्तर्यामी को अन्तः स्थित देख सशङ्कित होवे मन। पाप-वासना उठते ही हो नाश लाज से वह जल-भुन।।
जीवों का कलरव जो दिनभर सुनने में मेरे आवे। तेरा ही गुणगान जान मन प्रमुदित हो अति सुख पावे।।
तू ही है सर्वत्र व्याप्त हरि! तुझमें यह सारा संसार। इसी भावना से अन्तरभर मिलूँ सभी से तुझे निहार।।
प्रतिपल निज इन्द्रिय समूह से जो कुछ भी आचार करूँ। केवल तुझे रिझाने को, बस तेरा ही व्यवहार करूँ।।

आश्रम के प्रतिदिन के कार्यक्रम

प्रातःकाल 4.30 बजे से 5:30 बजे तक	-	प्रभाती ब्रह्म कीर्तन
प्रातःकाल 5:30	-	आरती
प्रातःकाल 5:35 बजे से 7:00 बजे तक	-	योगाभ्यास
प्रातःकाल 8:00 बजे से 9:00 बजे तक	-	गीता स्वाध्याय
सायंकाल 4:00 बजे से 6:00 बजे तक	-	योगवशिष्ठ महारामायण की कथा तथा सन्त महापुरुषों द्वारा वेदान्त के भजन कीर्तन व उपदेश
सायंकाल 4:00 बजे से 6:00 बजे तक	-	16 अक्टूबर से 15 अप्रैल - शीतकालीन समय
सायंकाल 3:00 बजे से 5:00 बजे तक	-	16 अप्रैल से 15 अक्टूबर - ग्रीष्मकालीन समय

आश्रम के वार्षिक कार्यक्रम

गुरु पूर्णिमा (आषाढ़ सुदी पूर्णिमा)

पुण्य स्मृति बसन्त पंचमी (माघ सुदी पंचमी)

अखण्ड विशम्भरानन्द ज्ञान सरिता

वर्ष 7, बसंत पंचमी, माघ शुक्ल पंचमी विक्रम संवत् 2080

स्वामी श्री अखण्ड विश्वम्भरानन्द ज्ञान सरिता संत आश्रम के लिये प्रकाशक, मुद्रक, प्रधान सम्पादक श्री राजेन्द्र कुमार मिश्रा द्वारा अमर ज्योति प्रेस, झांसी द्वारा मुद्रित किया गया व श्री अखण्ड विश्वम्भरानन्द संत आश्रम, लहर देवी रोड, वेदान्त नगर, सीपरी बाजार, झांसी से प्रकाशित।

सम्पादक– श्री प्रमोद कुमार गुप्ता

पं.सं. UPHIN/2016/73634
भारत सरकार

संस्थापक एवं संरक्षकः
श्री आर. के. मिश्रा
श्री अखण्ड विश्वम्भरानन्द संत आश्रम धर्मार्थ समिति
लहरगिर्द, नालगंज
सीपरी बाजार, झांसी (उ.प्र.)

आदि सम्पादकः
ब्रह्मलीन परम पूज्य श्रद्धेय स्वामी शुकदेवानन्द जी

प्रधान सम्पादकः
श्री राजेन्द्र कुमार मिश्रा

सम्पादकः
श्री प्रमोद कुमार गुप्ता

सम्पादन मण्डलः
डॉ. रंजना शर्मा
श्रीमती कुमकुम बिसरिया
श्री अरविन्द देवलिया
श्री वैभव वर्मा

प्रकाशन कार्यालयः
श्री अखण्ड विश्वम्भरानन्द संत आश्रम
धर्मार्थ समिति लहरगिर्द, नालगंज
सीपरी बाजार, झांसी (उ.प्र.)
पिनकोड–284 003
फोन– (0510) 2360251

अर्द्धवार्षिक

मूल्य : निःशुल्क वितरण के स्वाध्याय हेतु

–मुद्रक–
अमर ज्योति प्रेस
सदर बाजार, झाँसी, मोबा. : 9415030917

अनुक्रमणिका

क्र.सं.	विवरण	लेखक	पृष्ठ
1.	सम्पादकीय	राजेन्द्र कुमार मिश्रा	03
2.	पुरोवाक्	प्रमोद कुमार गुप्ता	04
3.	प.पू. स्वामी शुकदेवानन्द जी का योग शिविर में प्रवचन – पंचम पुष्प	प्रमोद कुमार गुप्ता	05
4.	साध्य साधन विवेक	ब्र. राघवेन्द्र चैतन्य	07
5.	श्री वल्लभाचार्य	पं. चन्द्रिका प्रसाद त्रिपाठी	09
6.	समता	प्रमोद कुमार गुप्ता	10
7.	हनुमान जी द्वारा रावण की चिकित्सा करने का यत्न	अरविन्द कुमार देवलिया	12
8.	मानव जीवन	डॉ. रंजना शर्मा	16
9.	सुख	ब्र. राघवेन्द्र चैतन्य	18
10.	देह का भान	वैभव वर्मा	19
11.	मृग तृष्णा	कुमकुम बिसारिया	21
12.	आरम्भिक साधना पथ	शंकर दास	22
13.	मन्दिर भक्ति के द्वार	आर. एन. उपाध्याय	23
14.	आक्सीजन प्राणवर्द्धक वायु या प्राणहर्ता वायु	अनुराग चतुर्वेदी	27
15.	भारतीय संस्कृति के प्रमुख तत्व	डा. अनिल कुमार दुबे	29
16.	पुरूषोत्तम मास	गार्गी चैतन्य	34
17.	सद्गुरु आरती		36

– पाठकों से निवेदन –

Website : www.akhandavedanta.com
E-mail : neerajnikhra@gmail.com, diszvaibhav@gmail.com

गुरु भक्त अपनी ई–मेल पर "**अखण्ड विश्वम्भरानन्द ज्ञान सरिता**" पत्रिका निःशुल्क चाहते हैं तो उपर्युक्त ई–मेल आईडी पर सम्पर्क कर सकते हैं।

संपादकीय

सनातन धर्म में गुरु पूर्णिमा का पर्व आषाढ़ मास की पूर्णिमा के दिन मनाया जाता है। मान्यताओं के अनुसार चारों वेदों के ज्ञाता महर्षि वेद व्यास का जन्म इसी दिन हुआ था। महर्षि वेदव्यास ने ही चारों वेदों और महाभारत जैसे महाग्रंथ को लिपिबद्ध करके मानव जाति को उनका ज्ञान प्रदान कराया था। इसीलिए महर्षि व्यास को प्रथम गुरु भी कहा जाता है। महर्षि व्यास उन 8 महापुरुषों में सम्मिलित हैं जिन्हें अमरत्व का वर प्रदान है।

भारतीय सभ्यता में गुरु का विशेष महत्व है। गुरु व्यक्ति का सही मार्गदर्शन करता है। गुरु की कृपा से ही जीवन में सफलता प्राप्त की जा सकती है–

ईश्वर सेवा कल्पशत्, गुरु सेवा पल चार।
तौ भी नहीं बराबरी, कहते वेद पुकार।।

ईश्वर की सेवा का फल शरीर छूटने के बाद आगे अगले जन्म में मिलता है। परन्तु सद्‌गुरु की सेवा का फल दृष्ट और अदृष्ट दोनों जगह प्राप्त होता है। गुरु पूर्णिमा के पावन अवसर पर साधन सम्पन्न जिज्ञासु अपने स्व स्वरूप अर्थात् परम तत्त्व (आत्म साक्षात्कार हेतु) हाथ में पुष्प लेकर नम्रता एवं श्रद्धा पूर्वक गुरु को प्रणाम करके उनकी सेवा करें।

गुरुदेव स्वामी विशम्भरानन्द, आदि शंकराचार्य के द्वारा प्रतिपादित ब्रह्मसूत्र भाष्य के मर्मज्ञ एवं विवेचक थे। ब्रह्मसूत्र भाष्य में नित् और अनित् अर्थात् आत्मा और अनात्मा का विवेचन किया गया है। यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाये तो शंकराचार्य द्वारा रचित इस भाष्य को दो प्रधान भागों में विभक्त किया जा सकता है; दृष्टा और दृष्य। दृष्टा जहाँ तत्त्व है और सम्पूर्ण प्रतीतियों का अनुभव करने वाला है वहीं दूसरा तत्त्व दृष्य अनुभव का विषय मात्र है। दादा गुरु स्वामी अखण्डानन्द जी कहा करते थे कि "देखो–देखो देखने वाले को देखो" अर्थात् समस्त प्रतीतियों का अनुभव करने वाले तत्त्व का नाम आत्मा है और जो कुछ उसके विषय हैं वह सब अनात्मा हैं। आत्म तत्त्व नित्य, निश्चल, निर्विकार, असंग कूटस्थ एवं ऐक्य है। मन बुद्धि से लेकर जितने भी प्रकृतिजन प्रपञ्च हैं उनका इस आत्मा से कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। अर्थात् आत्मा साक्षी मात्रा है, ऐसा जिज्ञासु को निरन्तर विचार करना चाहिए।

सर्वे येनानुभूयन्ते या स्वयं नानुभूयते।
तम् आत्मानं वेदितारं विद्धि बूदध्या सुसूक्ष्मया।।

– राजेन्द्र मिश्र
प्रधान सम्पादक

पुरोवाक्........

आप जहाँ हैं, वहीं से आगे बढ़ना है। आवश्यकता है निर्विकार मन-बुद्धि की एवं मन में ब्रह्म ज्ञान पाने की उत्कट इच्छा का होना। उसे पाने के लिए अनेक पंथ या रास्तों में पड़ेंगे तो मकड़जाल में उलझते ही जायेंगे। एक गन्तव्य पर पहुंचने के लिए अनेक मार्ग होते हैं, उसी प्रकार से परम तत्त्व को पाने के मार्ग भी अनेक हो सकते हैं।

हम समर्पण से भक्ति मार्ग या विवेक बुद्धि से ज्ञान मार्ग या फिर कुण्डली जागरण द्वारा योग मार्ग से उसे पा सकते हैं। ज्ञान, भक्ति और योग में भी विभिन्न मत-मतावलंबी हैं। इसलिए हमें अपनी प्रवृत्ति के अनुकूल जो भी मार्ग उत्तम लगे, उस पर बढ़ते जाना है। कहना अनुचित नहीं होगा कि आपका स्वाध्याय एवं आत्म चिंतन पराकाष्ठा पर है तब आप अपना मार्ग स्वयं भी प्रशस्त कर सकते हैं। हाँ, यह अवश्य है कि ऐसे बिरले ही होते हैं जो स्वयं रास्ता बनाकर ब्रह्म ज्ञान प्राप्त कर पाते हैं।

कामनाओं से मुक्त होना ही ब्रह्म ज्ञान को पाना है। कामनायें भी तीन प्रकार की तामस कामना, राजस कामना एवं सात्विक कामना होती हैं। शरीर के ही देखरेख में लगे रहना उसके सौन्दर्य को पुष्ट करना तामसी कामना है एवं इस शरीर को ज्ञानेन्द्रियों द्वारा सुख पहुंचाने वाली कामना राजस कामना होती है। इन दोनों कामनाओं का त्याग कर पाना फिर भी सरल है। परन्तु सात्विक कामना यानि मैं बहुत बड़ा भक्त हूँ, मैं सुन्दर भजन कहने वाला हूँ, मैं बहुत सुन्दर प्रवचन देता हूँ, मैंने बहुत ग्रंथों का पठन-पाठन किया, मेरे बहुत सारे शिष्य हैं आदि-आदि। इस तरह की कामना का त्याग कर पाना बहुत कठिन होता है। सात्विक कामना केवल प्रभु कृपा से ही समाप्त हो सकती है, इसका प्रमुख साधन गुरु के प्रति हृदय से सच्ची श्रद्धा का होना है।

इसी को ग्राह्य करने के लिए गुरु का जीवन में विशेष स्थान होता है, गुरु यानी अंधकार अज्ञान को हटाने वाले। जीवन में ज्ञान का स्फुरण कराने वाले गुरुजनों को श्रद्धा समर्पित करने का विशेष पर्व गुरु पूर्णिमा हर्षोल्लास से मनाते हैं।

दादा गुरु स्वामी अखण्डानन्द जी एवं सद्‌गुरु स्वामी विश्वम्भरानन्द जी को याद करने का सहज अनवरत क्रम बनाए रखने वाले गुरु महाराज स्वामी शुकदेवानन्द जी की प्रेरणा से, झाँसी आश्रम द्वारा श्री अखण्ड विश्वम्भरानन्द ज्ञान सरिता का अर्द्धवार्षिक प्रकाशन किया जाता है। जो निश्चित ही सुधि पाठकों को जीवन दिशा देने में सहायक होती है। आप सभी भक्त जनों के सहयोग एवं माँ सरस्वती के कृपापात्र प्रबुद्ध लेखकों के मौलिक चिंतन को आप तक पहुँचाने का कार्य यह पत्रिका कर रही है। जिसका स्वाध्याय चिंतन करके सुधि पाठक अपने जीवन को कृतार्थ करें।

– प्रमोद कुमार गुप्ता
संपादक

परम पूज्यनीय श्री स्वामी शुकदेवानन्द का योग शिविर में प्रवचन – पंचम पुष्प

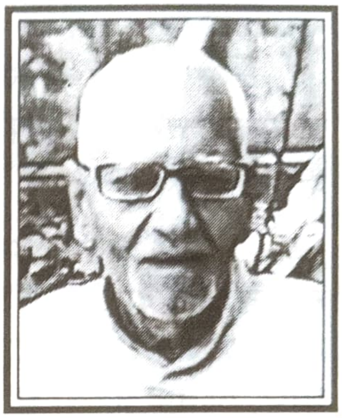

शरीरधारी जीव को जाग्रत अवस्था में, जिससे संसार का ज्ञान होता है, उसे अक्ष (नेत्र) कहते हैं। यह नेत्र, ज्ञानेन्द्रियां, मन, बुद्धि आदि ज्ञान के साधन प्रकृति ने संसार को देखने के लिए मनुष्य को दिये हैं। लेकिन कोई भी प्राणी (मनुष्य सहित) उस देखने वाले को, जो सबके पीछे बैठकर देख रहा है, इन इन्द्रियों से नहीं देख सकता। हम संसार में उसे अंधा कहते हैं जो नेत्रहीन हो, लेकिन वास्तव में अंधा वह है जिसने अपने अन्दर बैठे उस परमतत्त्व को नहीं पहचाना जो नेत्रों का भी नेत्र है, समस्त जीवों के प्राणों का प्राण है। जिसके भय से संसार चक्र चल रहा है। जो अकर्ता, अभोक्ता हो करके समस्त प्राणियों के भीतर बैठकर अपनी उपस्थिति का आभास दे रहा है। वह जहां सृष्टि है, वहां भी है, जहां नहीं है, वहां भी है। जैसे समुद्र जल के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। जल में लहरें हैं तब भी जल है, लहरें नहीं हैं तब भी जल है। लहरें जल के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है।

उस ज्ञान स्वरूप तत्त्व को दिखाने के लिए सद्गुरु के द्वारा प्रदान दृष्टि चाहिए। वह दृष्टि श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरु ही प्रदान कर सकते हैं। उस दृष्टि के बिना हम धृतराष्ट्र की तरह जन्मान्ध हैं। धृतराष्ट्र के पास क्या नहीं था? भारत के सम्राट थे, उच्चकुल, व्यास जैसे पिता, पाण्डु और विदुर जैसे भाई थे। विदुर धर्म के ही अवतार थे लेकिन विदुर से हर तरह का विचार-विमर्श करते हुए भी उन्होंने कभी भी उनकी शिक्षा नहीं मानी एवं उनके उपदेशों की उपेक्षा ही करते रहे।

इसके अतिरिक्त अपने पुत्रों के मोह में अन्धे होकर के एक दरबारी कणिक नाम के ब्राह्मण को अपना गुरु बनाया और उसकी सलाह के अनुसार ही अपने ज्येष्ठ पुत्र दुर्योधन को निष्कंटक राज्य देने के लिए पाण्डु पुत्र युधिष्ठिर तथा भीम आदि को मरवाने की योजना से भीम को जहर दिया एवं लाक्षागृह में समस्त पाण्डुओं को जीवित ही जला देने के लिए प्रयास किया। अंत में जीवन भर पुत्र मोह में फंसे रहकर संपूर्ण कुल के विनाश के निमित्त बने। जो मनुष्य संसार के पीछे दीवाना होकर वित्तेषणा, पुत्रेषणा, लोकेषणा में ही फंसा रहता है वह गुरु ज्ञान के बिना इस संसार में भटकता ही रहता है।

मनुष्य जीवन का लक्ष्य जन्म-जन्मान्तर की वासनाओं से निवृत्त होकर सत् एवं असत् का विवेक करके असत् से वैराग्य और सत् को जानना है। उस सत् को जानने के लिए हमें श्रोत्रिय एवं ब्रह्मनिष्ठ गुरु की शरणागति ग्रहण्पा करना चाहिए।

श्रुति भगवती कहती है-

परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान् ब्राह्मणो, निर्वेद मायात्रास्त्यकृत: कृतेन।
तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभि गच्छेत्, समित्पाणि: श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्।।

(मुण्डकोपनिषद् 1-2-12)

तत्त्व ज्ञान का जिज्ञासु यह अनुभव करता है कि संसार के भोगों से कभी भी तृप्ति नहीं हो सकती तथा ज्यों-ज्यों भोगों को हम भोगते हैं, त्यों-त्यों उनकी तृष्णा बढ़ती चली जाती है तथा इससे कभी भी किसी को शान्ति नहीं मिली है।

कर्मों के द्वारा हम उस तत्त्व को नहीं जान सकते जिसका कभी अभाव नहीं होता, जो न किसी से पैदा हुआ है तथा जो साक्षी रूप में सदैव विद्यमान रहता है, जो महाप्रलय में सारी सृष्टि को अपने में समेट कर लीन कर लेता है तथा सृष्टि में समष्टि के प्रारब्ध के अनुसार पुन: सृष्टि, जिसके संकल्प से उत्पन्न होती है और जिसमें लय होती है, उसी का नाम ब्रह्म है। वही सब प्राणियों का आत्मा है, उसको जानने के लिए हमें श्रोत्रिय एवं ब्रह्मनिष्ठ गुरु की शरण में जाना चाहिए। प्रणाम ही गुरु की दक्षिणा है।

संकलनकर्ता- **प्रमोद कुमार गुप्ता**
योग प्रशिक्षक, झाँसी

प्रत्यक्षमप्य वस्तुत्वाद्विश्वं नास्त्यमले त्वयि।
रज्जुसर्प इव व्यक्तमेवमेव लयं व्रज।

- 3 अ.गी.

यद्यपि जगत प्रत्यक्ष दीख रहा है, यथापि यह तुम्हारे शुद्ध स्वरूप में सर्वथा ही नहीं है। यह तो रज्जु में सर्व के समान दीखने लगा है। ऐसा निश्चय करके तुम मुक्त हो जाओ।

रामदुखसुख: पूर्ण आशा नैराश्ययो: सम:।
समजीवित मृत्यु: सन्नेव मेव लयं व्रज।

- 11-5 (अ.गी.)

तुम पूर्ण हो, तुम यह जानकर कि सुख-दु:ख, आशा-निराशा, जीवन और मृत्यु समान ही है, मुक्त हो जाओ।

साध्य साधन विवेक

एक बार हमारे पूज्य स्वामी जी किसी विश्वविद्यालय में छात्रों के प्रवचन हेतु जा रहे थे। मार्ग में उन्हें एक विद्यार्थी मिला। जिससे उनका निम्न वार्तालाप हुआ-

स्वामी जी- तुम यूनिवर्सिटी में क्यों आते हो?

छात्र- (चौंक कर) पढ़ाई के लिए।

स्वामी जी- लगता है तुम्हें पढ़ाई से प्रेम है?

छात्र- पढ़ाई मैं डिग्री के लिए करता हूँ।

स्वामी जी- तुम यहाँ डिग्री पाने के लिए आते हो या और कुछ पाने?

छात्र- (झुंझलाकर) डिग्री इसलिए चाहिए जिससे मुझे नौकरी मिल सके और मुझे धन प्राप्त हो।

स्वामी जी- अच्छा तो ये बात है, यहाँ तुम धन के लिए आते हो। बस धन ही चाहिए न?

छात्र- स्वामी जी! धन से मैं एक अच्छा घर या गाड़ी खरीदूँगा और एक सुन्दर युवती से विवाह करूँगा।

स्वामी जी- अब मैं समझा, तुम शादी करने के लिए यूनिवर्सिटी आते हो।

हम सभी साधकों हेतु ये वार्तालाप विचारणीय हैं। मानिए कि हम ही वो छात्र हैं, जिससे ये प्रश्न पूछे जा रहे हों। आध्यात्मिक दृष्टि से कहें तो हम जो मुख्य रूप से प्राप्त करना चाहते हैं, उसको "साध्य" कहते हैं। जिस माध्यम से हम वह साध्य लक्ष्य प्राप्त करना चाहते हैं, उसके "साधन" कहते हैं। वेदान्त में साध्य साधन विवेक अत्यन्त महत्वपूर्ण बिन्दु हैं। एक समय में जो हमें साध्य लगता है, वहीं कुछ विचार करने पर साधन दिखने लगता है। भौतिक क्षेत्र के विद्वानों में भी कई बार इस विवेक का अभाव दिखता है। इसके अभाव में आध्यात्मिक यात्रा तो छोड़िए, लौकिक यात्रा भी ठीक से नहीं हो पाती है।

प्रभु कृपा से हम सबको शरीर, मन, बुद्धि से प्राप्त है। शरीर के स्तर पर विचार करें तो हम सभी संतुलित, पौष्टिक और रुचिकर आहार के द्वारा शरीर को स्वस्थ पुष्ट रखना चाहते हैं। स्वस्थ शरीर क्यों चाहिए तो गीता में भगवान ने कहा कि- स्वस्थ शरीर का विनियोग कर्म में करना चाहिए। बिना कर्म के ये शरीर यात्रा भी ठीक से नहीं होती। तो यहाँ शरीर साधन हुआ और कर्म साध्य। अब प्रश्न उठा कि कर्म क्यों करना है? तो उत्तर आया धन कमाने हेतु। धन प्राप्त कर सुविधापूर्ण जीवन जीना है, जिससे हम स्वस्थ रहें और फिर स्वस्थ शरीर से कर्म करना है। ये तो पूरा एक चक्र हो गया। यहाँ मुख्य साध्य क्या हुआ? शरीर, स्वास्थ्य, कर्म, धन या उस विद्यार्थी की भांति विवाह? इसका निर्णय हर साधक के स्तर पर उसके अधिकार भेद से अलग-अलग होगा।

जिस प्रकार हर रोगी के लिए भिन्न-भिन्न प्रकार की दवा-उपचार होता है। गोस्वामी तुलसीदास जी हम पर कृपा कर इस विचार पर प्रकाश डालते हैं- **"हरि समरपे बिनु सतकर्मा"** को कहते हैं कि कर्म कर्म के लिए नहीं होता है। कर्म कर्म को सत्कर्म बनाने के लिए होता है।

हर कर्म सतकर्म नहीं कहलाता। कर्म तब सत्कर्म की श्रेणी में आता है, जब वह हमारे प्रभु, इष्ट, गुरु या किसी श्रद्धेश को समर्पित हो। जिस मनुष्य को व्यक्तिगत, संकुचित, स्वार्थ पूर्ण जीवन जीने का अभ्यास है या यों कहें कि जिसकी बुद्धि में किंचित् भी विचार करने का सामर्थ्य नहीं है, वो इस बिन्दु पर आकर झुंझलाता है। सारी मेहनत मैं करूँ और समर्पित किसी और को कर दूँ, श्रेय किसी और को दे दूँ। ये तो सरासर अन्याय है। मैं रोज नियम से टहलता हूँ, योग करता हूँ, वर्षों से ये पाठ करता हूँ, हर गुरुवार को गरीबों को फल बांटता हूँ, कई संस्थाओं में दान देता हूँ। मेरे कारण मेरी मेहनत से तो सब होता है और आप कहते हैं कि श्रेय किसी और को दे दूँ।

यह विचार हम सबके मन में भी किसी न किसी रूप में चलता रहता है। हम क्या कर रहे हैं, ये तो महत्वपूर्ण है ही, लेकिन इससे भी अधिक महत्वपूर्ण यह है कि हम किसी साध्य की प्राप्ति हेतु, किसको समर्पित कर ये कर रहे हैं।

वेद भगवान भी कहते हैं- **"कस्मै देवाय हविषा विधेम।"**

यदि हम स्वयं को साधक या आध्यात्मिक पथिक की श्रेणी में रखना चाहते हैं तो हमें बारम्बार सावधानी से साध्य साधन का विवेक करना होगा। यहाँ भी एक बिन्दु ध्यातव्य है जो अक्सर छूट जाता है। ये विवेक विचार हमें उस साधक के कुशल मार्ग दर्शन में करना चाहिए। जिसके जीवन में ये विवेक हमारी अपेक्षा अधिक स्पष्ट व प्रमाणित हो। सार रूप में कहें तो ये विवेक गुरु परम्परा से करना चाहिए।

संसार में लोगों का पूरा जीवन इस विवेक के बिना बीत जाता है, जबकि सत्य यह है कि जब तक ये विवेक नहीं होगा, तब तक शास्त्रीय रूप से हम न तो कर्म के, न भक्ति के और न ज्ञान के प्रमाणित यात्री अधिकारी हैं। ऐसा जीवन में तो निरर्थक, पाश्विक भटकन मात्र है। आइये इस पावन गुरु पूर्णिमा के अवसर पर अपने कृपालु गुरुजनों से करबद्ध विनम्र दीन भाव से निवेदन करें कि-

अज्ञान तिमिरा न्यस्य, ज्ञानांजन शलाकया।
चक्षुरून्मीलितं येन, तस्मै श्री गुरवे नमः।।

परमपूज्य गुरुदेव के चरणों में सादर समर्पित।

- ब्रह्म. राघवेन्द्र चैतन्य
चिन्मय मिशन झाँसी
मो.- 8707209996

श्री वल्लभाचार्य

स्वामी वल्लभाचार्य द्वारा शुद्धाद्वैत सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है। वे अपने अणु भाष्य में प्रबल प्रमाणों से शुद्धाद्वैत की स्थापना करते हैं। महाराज विजय नगर के अध्यक्ष के दरबार में अद्वैतवादियों को परास्त कर उन्होंने अलौकिक पाण्डित्य का परिचय दिया है। वे चैतन्य महाप्रभु के समकालीन थे। इनके मतानुसार ब्रह्म निर्गुण होता हुआ भी सगुण है। निराकार होता हुआ भी साकार है। भगवान सच्चिदानन्द सर्व व्यापक सर्व शक्तिमान हैं। अद्वैत मत के अनुसार निर्विशेष चिन्मात्र ब्रह्म ही माया के सम्पर्क से सविशेष प्रतीत होता है, ईश्वर-जीव दोनों अविद्यायुक्त हैं, इत्यादि। वल्लभाचार्य इस कथन को स्वीकार नहीं करते हैं। मध्वाचार्य मतानुसार परब्रह्म अचिंत्य महिमामंडित होने के कारण परस्पर विरोधी गुणों से युक्त है। "अणोरणीयान महतो महीयान" वेद भगवान को अणु से भी लघु एवं महत्पदार्थ से भी महत्तर बतलाते हैं। इनके मत में जीव भगवान का अंश अलक्षित रहता है। मुक्त होने पर आनन्द-अंश होने पर भी अभिन्न है। सत्-चित्-आनन्द रूप ब्रह्म के सत् अंश से प्रकृति की अभिव्यक्ति तथा चित् अंश से जीव तत्त्व की अभिव्यक्ति है। जीव में ब्रह्म से निर्गमन काल में आनंद-अंश अलक्षित रहता है। मुक्त होने पर आनन्द-अंश प्रकट हो जाता है, अभेद है।

आचार्य के मत में जगत भी भगवान के सत् अंश से निकलने के कारण विकारी नहीं है। किन्तु ब्रह्म जीव के सदृश नित्य अविकृत तत्त्व है।

वैष्णव दर्शनों में वल्लभाचार्य की यह कल्पना स्वतंत्र है। विशिष्टाद्वैत के अनुसार ही जीव को वे अणु मानते हैं किन्तु जगत को हेय नहीं मानते। क्षर, अक्षर पुरुषोत्तम को उत्तरोत्तर श्रेष्ठ तो मानते हैं किन्तु क्षर को भी भगवान के सत्-अंश होने के कारण शुद्ध नित्य मानते हैं। इसीलिए इनका मत शुद्ध अद्वैत है। अर्थात् जगत जीव एवं ब्रह्म तीनों शुद्ध तत्वों का 'अभेद' ही शुद्धाद्वैत है।

आचार्य के मत में मर्यादा भक्ति की अपेक्षा पुष्टि भक्ति का अवलम्बन ही श्रेष्ठ मानव मोक्ष है। मर्यादी भक्ति में ज्ञान की अपेक्षा होती है किन्तु पुष्टि भक्ति में ज्ञान, वर्ण, जाति आदि की अपेक्षा नहीं होती है। अनुग्रह को पुष्टि कहते हैं पोषण तदनुग्रह? (सुबोधनी 2-10)। इनके मत में ज्ञान से अक्षर ब्रह्म (जीवात्मा) की प्राप्ति होती है। किन्तु भगवान की प्राप्ति तो अनन्य भक्ति से ही संभव है। अत्यन्त सरल पुष्टि मार्ग द्वारा आनन्द सिन्धु भगवान को अधरामृत पान करना ही जीव का परमफल है।

– पं. चन्द्रिका प्रसाद त्रिपाठी

अध्यक्ष-मानस समाज सत्संग समिति, सीपरी बाजार, झांसी

समता

अनुकूल-प्रतिकूल किसी भी स्थिति में मन विचलित हुए बिना शांत, सम रहे यह समता स्थिति है। संसार में किसी व्यक्ति, स्थान, घटना, परिस्थिति अथवा कार्य आदि में राग अथवा द्वेष न होने पर ही समता आ पाती है। जीवन में जब राग-द्वेष उपजता है तब ही मन-बुद्धि में विषमताओं का प्रादुर्भाव होता है। विषमता से उत्पन्न कामनायें एवं द्वेष बुद्धि से जनित उद्वेग सूक्ष्म शरीर में सूक्ष्म ऊर्जा के रूप में संग्रहीत होता रहता है। यही "पुनरपि जन्मम्, पुनरपि मरणम्" चक्र का कारण होकर बंधन बन जाता है। बंधन का कारण सतोगुण, रजोगुण एवं तमोगुण से संगता का मन में होना ही होता है।

जन्म-मरण रूपी भव सागर से मुक्ति के साधन के रूप में अपने जीवन एवं आचरण में समता या समबुद्धि का होना अति आवश्यक है। जीवन में निष्काम भाव से कर्म करने पर स्वतः समता आ जाती है। परन्तु निष्कामता आना इतना सहज नहीं है, प्रशंसा या अपमान होने पर, किये गये कार्य की सफलता या असफलता में, हानि-लाभ आदि प्रत्येक अनुकूल या प्रतिकूल परिस्थितियाँ प्राप्त होने पर अन्तःकरण चित्त में उनका कोई प्रभाव न पड़े, विवेक बुद्धि पर निर्भर है। समतायुक्त पुरुष ही संसार में रहते हुए भी संसार से निर्लिप्त रह पाता है। कर्मों को करते हुए समता रखना विवेक बुद्धि की कुशलता से ही संभव होता है। जिससे वह कर्म एवं कर्म के फल से नहीं बंध पाता और शान्त निर्विकार भाव होने से उसमें निरन्तर समता बनी रहती है। इस सम बुद्धि का किसी भी देश काल में नाश नहीं होता। जिसे सत् भी कहते हैं, जिससे परमात्म तत्त्व की प्राप्ति होती है। परमात्मा तो परिवर्तनशील प्रकृति और प्रकृतिजन्य पदार्थों से तो सर्वथा अतीत है और सम्पूर्ण देश, काल, वस्तु, परिस्थिति, घटना आदि में नित्य निरन्तर एकरस स्वरूप रहने वाला है। इसका अनुभव आने में मुख्य रूप से हमारे अन्दर का राग-द्वेष ही बाधा उत्पन्न करता है।

पशु-पक्षी आदि जंगम एवं पेड़-पौधे, लता स्थावर प्राणी सभी भोग योनियां हैं। जिनमें वह पूर्वजन्म में किए गये कर्मों को भोगता है। मनुष्य योनि में भी पूर्वकृत कर्मानुसार इस जीवन में सुख-दुख तो भोगता ही है, किन्तु वह विवेक बुद्धि से समत्व भाव लाकर परमात्मा का साक्षात्कार करके इसी जीवन में जन्म-मरण बंधन से मुक्त हो सकता है। यानि कि नवीन कर्म करने का सामर्थ्य मनुष्य योनि में ही है।

चित्त वृत्ति का निरोध करने से स्वतः समता आ जाती है जिससे निर्विकल्प बोध होने से सम्पूर्ण अवस्थाओं के प्रकाशक परब्रह्म परमात्मा का अनुभव पा जाते हैं। वास्तव में तो परमात्मा से हमारा सम्बन्ध सदा से है, अभी है और हमेशा रहेगा। परमात्मा से हमारी संगता होते ही संसार से असंगता हो जाती है और तब फिर सबमें परमात्मा ही है भाव आते ही समत्व बुद्धि आ जाती है।

सांसारिक सुख की कामना, आशा, भोग भोगने की इच्छा के कारण ही समता का भाव

नहीं आ पाता या फिर स्थिर नहीं रह पाता यानि समता बनी रहे इसमें यह सब बाधक सिद्ध होते हैं। कारण स्पष्ट है कि यह सब इस शरीर को पोषित करने वाले कारक होते हैं। इसके लिए परहित के कार्य करके अपना अहं दूर कर सकते हैं। इसीलिए तुलसीदास जी ने रामचरित मानस में लिखा है– **"परहित सरिस धरम नहीं भाई।"**

समता के लिए जीवन में संतोष होना भी परम आवश्यक है। कबीरदास जी ने कहा है कि–

"गोधन, गजधन, बाजिधन और रतनधन खान। जो आवे संतोष धन, सब धन धूरि समान।।"

परमात्म चेतन तत्त्व तो हमसे कभी दूर नहीं होता। वह तो बस इस शरीर से हमारे गहरे लगाव के कारण अपने से दूर प्रतीत होता है, जो ब्रह्मनिष्ठ गुरु के मार्गदर्शन से अज्ञान के विलोपन होते ही स्वतः अनुभूत हो जाता है। माया के कारण ही परब्रह्म विभक्त सा भासित होता है। जिस तरह से घट में घटाकाश विभक्त सा प्रतीत होता है जबकि आकाश तो सदैव अखण्ड है, इसी प्रकार से जीव जब तक अपने को घटाकाश की तरह अलग सा मानता है तब तक वह माया के वशीभूत रहकर सुख–दुःख पाता रहता है। अन्तःकरण की समता में यही संसार और अपने शरीर का राग ही बाधा उत्पन्न करता है जिसे मिटाना आवश्यक है। अज्ञान हटते ही जीव और ब्रह्म का भेद मिट जाता है और सर्वज्ञ परमात्मा की अनुभूति होने पर सारे संसार से प्रेम होने पर सच्चा आनन्द प्राप्त होता है जिससे समता आ जाती है।

सकाम भाव होने पर मन में अनेक प्रकार की कामनायें आने के कारण उनकी पूर्ति करने के लिए विभिन्न प्रकार के विचार आते रहते हैं। जिससे समता का आ पाना मुश्किल होता है। समता शान्त स्थिर मन का द्योतक है, जैसे धर्मोचित कर्म के द्वारा धन अर्जित करने पर शान्ति रहती है। परन्तु धन के संग्रह करने की तीव्र प्रवृत्ति के कारण चोरी करें, डाका डालें, रिश्वत लें या किसी को धोखा दें तो निश्चित रूप से शान्त नहीं रह पाता और भविष्य में दुःख का कारण बनता है।

समता के लिए आवश्यक है कि हमारा संसार की किसी वस्तु, व्यक्ति या परिस्थिति के प्रति राग न हो क्योंकि ऐसा होने पर किसी दूसरी वस्तु या व्यक्ति या परिस्थिति के प्रति मन में द्वेष रहना स्वाभाविक प्रक्रिया है। परन्तु विवेक द्वारा अज्ञान हटने पर अपने स्वरूप परमात्म भाव का ज्ञान होने पर फिर प्रतिकूलता में किसी के प्रति द्वेष नहीं उपजता, अपितु उपरति का भाव उत्पन्न हो जाता है और राग–द्वेष न आने पर समता बनी रहती है। विषम परिस्थितियों में धैर्य धारण करना चाहिए एवं अनुकूलता की स्थिति में अति उत्साहित भी नहीं होना चाहिए, बल्कि सदैव समान रहना चाहिए।

मन में किसी भी प्रकार की कामना, वासना, ममता या किसी से राग–द्वेष न रहने के कारण समता का भाव अहर्निश बना रहता है। जिससे पुनर्जन्म के लिए कोई कारण न रहने से, जन्म–मरण से मुक्ति मिल जाती है। इसीलिए समता को मुक्ति का साधन भी कह सकते हैं।

– प्रमोद कुमार गुप्ता
झाँसी

हनुमान जी द्वारा रावण की चिकित्सा करने का यत्न

भगवान राम ने सीधे लंका पर आक्रमण न करके पहले हनुमान जी को वहाँ भेजा था। इसका सांकेतिक तात्पर्य क्या है? श्रीरामचरितमानस में जहाँ पर मानस रोगों का वर्णन आया है, यहाँ मानस रोगों के वर्णन के साथ ही यह भी कहा गया है कि मन के रोगों को नष्ट करने वाला वैद्य चाहिये। और वह वैद्य कौन है?

सद्‌गुर बैद्य बचन बिस्वासा।

'सद्‌गुरु ही वह वैद्य है।' हनुमानजी को रावण के पास भेजने का तात्पर्य यह था कि हनुमान्‌जी ही वस्तुतः सद्‌गुरु हैं। वे शंकरके अवतार हैं।

भगवान का तात्पर्य यह है कि रावण जैसा रोगी, जो अपने रोग के द्वारा स्वयं तो दुःख पा ही रहा है, पर अपने से भी अधिक वह सारे समाज को दुःख में डाल रहा है, उसके रोग का निदान हो जाय, भगवान् चेष्टा यह करते हैं कि रावणके वध की आवश्यकता न पड़े। तात्पर्य यह है– जैसे जब हम किसी रोगी को चिकित्सक के पास ले जाते हैं, तो वह पहले तो यही चेष्टा करता है कि औषधि के द्वारा ही रोग शान्त हो जाय, पर अगर औषधि के द्वारा रोग शान्त न हो तो फिर उसकी शल्य– चिकित्सा भी करनी पड़ती है। भगवान ने हनुमानजी को इसीलिये भेजा कि तुम सद्‌गुरु के रूप में वैद्य हो, इसलिये तुम जाकर रावण के रोग को देखो और उसे दूर करने की चेष्टा करो। रावण यदि स्वस्थ हो जाय तो इसके परिणामस्वरूप समाज भी स्वस्थ होगा। रावण की अस्वस्थता सारे समाज को विनाश की ओर ले जा रही हैं, पर हनुमानजी जैसे वैद्य भी चेष्टा करके रावण की चिकित्सा नहीं कर पाते।

हनुमानजी ने यहाँ पर रावण के रोगों को पकड़ लिया और उन्होंने यह निर्णय किया कि रावण के रोगों की यह जड़ यदि एक बार नष्ट हो जाय, तो उसके अन्य रोग स्वयं नष्ट हो जायेंगे। इसीलिये हनुमान जी ने तुरंत रावण से अनुरोध किया कि मैं तुम्हें कुछ और छोड़ने के लिये नहीं कहता, तुम केवल एक ही वस्तु छोड़ दो। क्या ?

मोह मूल बहु मूल प्रद त्यागहु तम अभिमान।

'तुम तम रूप अभिमान का त्याग कर दो।' हनुमान जी इतने उदार हैं कि उसे केवल एक ही वस्तु छोड़ने के लिये कहते हैं। यदि बहुत कुपथ्य करनेवाला रोगी हो और उसको वैद्य अगर सब कुछ छोड़ने के लिये कहे तो शायद यह एक भी बात न माने तो चतुर वैद्य कहता है कि 'अच्छा भाई, भले सब न छोड़ सको, पर इतना तो छोड़ ही दो' और अभिमान में भी एक शब्द जोड़ दिया– 'तम अभिमान।' चलो, सतोगुणी, रजोगुणी अभिमान को न भी छोड़ पाओ तो कोई बात नहीं है, पर कम–से–कम तमोगुणी अभिमान को तो छोड़ दो और इसका उत्तर रावण की ओर से क्या मिला?

बोला बिहसि महा अभिमानी। मिला हमहिं कपि गुर बड़ ग्यानी।। (5/23/2)

रावण ने हँसकर कहा– 'अच्छा। तो अब मुझे तुम जैसा ज्ञानी गुरु मिला। तुम मेरी चिकित्सा करने– मुझे स्वस्थ बनाने के लिये आये हो?' रावण का हँसकर ऐसा कहने का तात्पर्य यह था कि मुझ जैसे ज्ञानी को एक बन्दर शिक्षा देने आया है। रावण का रोग इतना बढ़ गया है कि हनुमान जी की हितकर बात भी उसे नहीं सुहाती।

जो सामान्य रोगी होता है, यह तो वैद्यकी बातों पर विश्वास करता है और उसके कहे अनुसार पथ्य आदि करता है। पर जब रोग असाध्य हो जाता है और रोगी की मृत्यु होने वाली होती है, तो बहुधा उसकी प्रकृति कुपथ्य की दिशा में होने लगती है, मानो उसकी प्रकृति भी वैसी ही हो जाती है। वैद्य जो कहता है, वह उसका ठीक उलटा ही करता है। इसीलिये लिखा हुआ है–

काल दंड गहि काहु न मारा। हरइ धर्म बल बुद्धि बिचारा।।

'काल लाठी लेकर किसी को नहीं मारता। वह धर्म, बल, बुद्धि और विचार को हर लेता है।' हनुमान जी समझ लेते हैं कि रावण जैसा व्यक्ति स्वस्थ होने की स्थिति नहीं है। आप देखते हैं कि रावण विभीषण को निकाल देता है। यह रावण के क्रोधका एक दृष्टान्त है।

तो रावण के मन में क्रोध की प्रतिक्रिया आयी क्यों? हुआ यह कि जिस समय रावण ने हनुमान जी को मृत्युदण्ड दिया तो विभीषण आ गये और विभीषणने आकर कहा–

नीति विरोध न मारिअ दूता। (5/24/7)

'दूतको मारना नीति के विरुद्ध है। इसे मत मारिये।'

आन दंड कछु करिअ गोसाँई। (5/24/8)

'इसे कोई दूसरा दण्ड दें दीजिये।' सभी लोगों ने इसका समर्थन किया–

सबहीं कहा मंत्र भल भाई। (5/24/8)

और तब रावण ने तुरंत कहा–

सुनत बिहसि बोला दसकंधर। अंग भंग करि पठइअ बंदर।। (५। २४।९)

'इस बन्दर के शरीर का अंग–भंग करके इसे वापस भेज दो।' और कहा–

कपि के ममता पूंछ पर सबहि कहउँ समुझाई।
तेल बोरि पट बाँधि पुनिः पावक देहु लगाइ।। (5/24/9)

'बन्दर की ममता उसकी पूँछ में होती है। इसलिये उसकी पूँछ में कपड़ा लपेट तेल में डुबाकर उसमें आग लगा दो।' यही उसके लिये उचित दण्ड होगा। फिर हनुमान जी की पूँछ में आग लगा दी गयी। उस आग से हनुमानजी ने सारी लंका जला दी। रावण को विभीषण पर क्रोध ा यह देखकर आया कि सारी लंका जल गयी, पर विभीषण का घर नहीं जला। यह बड़ी विचित्र बात है। वह सन्तोष भी कर सकता था कि चलो सब घर जल गये, पर एक घर तो बच गया।

हनुमानजी ने विभीषण का घर क्यों नहीं जलाया? यही उनकी नीति कुशलता थी। हनुमान जी वस्तुतः रावण पर साम, दाम, दण्ड और भेद– इन चारों का प्रयोग करते हैं। जब उन्होंने साम का प्रयोग किया तो रावण को भाषण देकर समझाया–

बिनती करहुं जोरि कर रावन। सुनहु मान तजि मोर सिखावन।।

'हे रावण। मैं हाथ जोड़कर तुमसे विनती करता हूँ तुम अभिमान छोड़कर मेरी सीख को सुनो।' फिर उसे दाम नीति का लोभ भी दिखाया–

राम चरन पंकज उर धरहू। लंका अचल राजु तुम्ह करहू।।

'तुम भगवान के चरणकमल को हृदय में धारण कर लंका का अचल राज्य करो।' हनुमान चालीसा में आप लोग पढ़ते है–

तुम्हरो मंत्र विभीषण माना। लंकेस्वर भए सब जग जाना।।

यह मन्त्र कौन–सा है, यह हनुमान चालीसा में नहीं लिखा है। पर रामायण में उसका उत्तर मिल सकता है। वह मन्त्र तो हनुमान जी ने पहले विभीषण को नहीं, रावण को दिया था, पर रावण ने उस मन्त्र का तिरस्कार कर दिया और विभीषण ने उसे ग्रहण कर लिया। हनुमानजी का मन्त्र क्या था? यह कि भगवान् के चरणों को तुम हृदय में धारण करो और लंका का अचल राज्य करो। यह सुनकर रावण बिगड़ खड़ा हुआ और बोला– 'क्या मैं तुम्हारे कहने से लंका का राजा बनूँगा? वह तो मैं पहले से ही हूँ। विभीषण ने इस मन्त्र को पूरी तरह से समझ लिया था कि यह बिलकुल ठीक है। हनुमान जी ने रावण को दाम नीति के द्वारा भी आकृष्ट करना चाहा, पर वह भी सफल नहीं हुआ। फिर उन्होंने दण्ड नीति का प्रयोग करते हुए रावण को धमकाया भी। उन्होंने रावण से कहा–

संकर सहस बिष्नु अज तोही। सकहिं न राखि राम कर द्रोही।।

'तुम जैसे राम के द्रोही को हजारों शंकर, विष्णु और ब्रह्मा भी नहीं बचा सकेंगे। दण्ड नीति के भी असफल हो जाने पर अन्त में हनुमान जी ने भेद नीति का बड़ा कड़ा प्रयोग किया। भेद नीति का तात्पर्य यह है कि जहाँ दो व्यक्ति मिलकर अधिक शक्तिशाली हो रहे हों, वहाँ उन दोनों में फूट पैदा कर दी जाय। पर यहाँ हनुमान जी की चेष्टा दूसरे प्रकार की है। उनकी चेष्टा स्वार्थी राजनीतिज्ञों जैसी चेष्टा नहीं है। हनुमान जी ने देखा कि विभीषण और रावण का एक साथ रहना मानों अच्छाई और बुराई का एक साथ रहना है और इस तरह साथ रहने में अच्छाई का लाभ बुराई को मिल रहा है क्योंकि विभीषणी जितनी पूजा–पाठ करते हैं, वह सब रावण के द्वारा दी गयी सभी सुविधाओं के बीच ही तो करते हैं। इसलिये उसका पुण्य भी रावण को मिलता जाता है। इस प्रकार वह पुण्य–पाप को शक्ति प्रदान कर रहा है। इसलिये हनुमान जी ने निर्णय लिया कि पुण्य को पाप से अलग कर देना चाहिये। इसलिये हनुमानजी भेद नीति का प्रयोग करते हैं। उनका भेद नीति का प्रयोग क्या था?

जारा नगर निमिष एक माहीं। एक विभीषन कर गृह नाहीं।।

'उन्होंने सबका घर तो जला दिया, पर विभीषण का घर छोड़ दिया।' और उससे रावण के मन में सचमुच जबरदस्त भेद पड़ गया। रावणने सोचा कि जब मैंने इस बन्दर को मृत्युदण्ड दिया, तो इसी विभीषण ने आकर रोका था और इस बन्दर ने सारा नगर जलाया, पर इसी का घर छोड़ दिया। लगता है, दोनों मिले हुए हैं। अब मैं इसको सह नहीं सकता। हनुमान जी को अभीष्ट भी यही था कि रावण के मन में विभीषण के प्रति अविश्वास उत्पन्न हो जाय और तब रावण ने क्या किया? वह यह भी निर्णय कर सकता था कि विभीषण को कैद में डाल दे। पर उसने ऐसा नहीं किया। रावणने सोचा कि विभीषण! अगर तुम समझते हो कि तुम्हारा घर नहीं जला, तो भले ही उस बन्दर ने तुझे न जलाया हो, पर- **'रावन क्रोध अनल निज'** में अपने क्रोध की अग्नि के द्वारा तुम्हें जलाकर नष्ट कर दूंगा और इस तरह लात मारकर उसे घर से निकाल देता है। अगर रावण क्रोध में आकर विभीषण को निकाल न देता, तो लंका का रहस्य श्रीराम को ज्ञात न हो पाता तथा कम-से-कम भौतिक संदर्भमें रावणको जीतना उतना सरल नहीं होता। इस तरह रावण को जो अनियन्त्रित क्रोध है, अनियन्त्रित काम है, तथा जो अनियन्त्रित लोभ है, साथ में अहंकार है- वही उसके विनाश का कारण बनता है। यह अपने अनियन्त्रित काम के फलस्वरूप जगज्जननी का अपहरण कर लेता है, तथा अनियन्त्रित लोभ के कारण अपने बड़े भाई कुबेर के धन को छीनने में संकोच का अनुभव नहीं करता। जब काम की इतनी तीव्रता आ जाय कि कोई जगन्माता पर ही कुदृष्टि डाले और क्रोध इतना तीव्र हो जाय कि बिना अच्छे-बुरे का विचार किये, सबको विनष्ट करने पर तुल जाय, तो ऐसी स्थिति में वह सन्निपात से ग्रस्त तो है ही। इस दृष्टान्तसे लौकिक जगत को यह संदेश मिलता है कि वैद्य चाहे जितना कुशल और प्रतिभाशाली क्यों न हो, और रोगी को चाहे जितनी उत्तम औषधि क्यों न दे, लेकिन जब तक उस औषधि का सेवन रोगी नहीं करेगा, तब तक उसके रोगका निदान नहीं होगा। यहाँ रामके चरणों को हृदय में धारण कर सम्पूर्ण लंका का स्वामी बना रहने का जो मन्त्र (औषधि) रावण को श्री हनुमान जी ने दिया, उसे रावण ने अहंकारवश स्वीकार नहीं किया और विनाश का भागीदार हुआ। यहाँ हनुमान जी ने रावण के भीतर जो मनो रोग था, उसका उपचार करने का यत्न किया। किंतु मन्त्र रूपी औषधि को रावण ग्रहण करने से इनकार कर सर्वस्व का विनाश कर लेता है, लेकिन इसी औषधि (मन्त्र) को विभीषण ग्रहण कर लेता है और लंकेश्वर बनता है। ऐसे ही यदि मानव-जीवन में व्यक्ति हनुमान जी के मन्त्र को अपने जीवन में धारण करे तो उसे भी जीवन में स्थायी सुख-शान्ति प्राप्त होगी। यहाँ हनुमानंजीद्वारा मानव-जातिको उसके हितमें बहुत बड़ा सन्देश दिया गया है।

तुम्हरो मंत्र विभीषण माना। लंकेस्वर भए सब जग जाना ।।

यहाँ हनुमान जी द्वारा रावण के बहाने से प्रत्येक कल्याणकामी मनुष्य को हृदय में प्रभु श्रीराम के चरणों को बसा लेने का महामन्त्र दिया गया है।

-अरविन्द देवलिया

मानव जीवन

प्रत्येक मनुष्य के जीवन का एक परम लक्ष्य या साध्य होता है। इसी साध्य की प्राप्ति के लिए शुचितापूर्ण साधन का होना आवश्यक है। अनैतिक साधनों से प्राप्त साध्य सम्मानदायी नहीं होता। साथ ही साथ इस साध्य की प्राप्ति के लिए कर्म भी अनिवार्य है, क्योंकि बिना कर्म के कोई प्राणी रह नहीं सकता। कर्म के बिना साध्य की प्राप्ति की कामना नहीं की जा सकती। इन पहलुओं के साथ एक और महत्वपूर्ण पहलू है और वह है साध्य के प्रति दृढ़ता। यह दृढ़ता व्यक्ति को उसके साध्य पथ से भटकने नहीं देती।

यदि हमें अपने कार्यस्थल जाना है तो कार्यस्थल हमारा लक्ष्य होगा। यदि हम वहाँ तक साइकिल से जाते हैं तो साइकिल हमारा साधन हुई। इसके लिए आवश्यक है कि हम न केवल साइकिल के हैंडल को पूरी दृढ़ता के साथ ठीक से पकड़ें, बल्कि उसे सही दिशा की ओर भी रखें। यदि हमने हैंडल को ठीक से नहीं पकड़ा तो हम भटक कर कहीं भी पहुँच सकते हैं या दुर्घटना के शिकार हो सकते हैं।

ऐसे में यह नितांत आवश्यक है कि शुचितापूर्ण साधन के साथ निरंतर कर्म किया जाए। कर्म की दिशा को नियंत्रित करने के लिए चित्त की दृढ़ता आवश्यक है। चित्त की दृढ़ता के बिना साधन भले ही चलता रहे परन्तु साध्य को प्राप्त करना संभव नहीं होगा। इससे जीवन की नैया अधर में ही हिचकोले खाती रहेगी और हम जीवन को सार्थक नहीं बना पायेंगे। चित्त की दृढ़ता के लिए आवश्यक है कि हम अपने मन को नियंत्रण में लें अन्यथा सभी प्रयास निरर्थक होते जायेंगे।

उदारता परिपक्व जीवन की निशानी है। जब कोई बिना कारण अपेक्षा के मुक्तहस्त से अपना कोई अंश काटता है या यह उसकी अनंत आंतरिक स्थिति का द्योतक होती है। जब व्यक्ति की चेतना पर्याप्त उन्नत हो जाती है तो उदारता उसका स्वभाव बन जाती है।

यहाँ बोओ काटो का कर्मफल सिद्धांत भी लागू होता है। ईश्वर के विराट ब्रह्माण्ड एवं समाज के उदारतापूर्ण किए संयोग की प्रक्रिया में हम एक बीज बो रहे होते हैं, जो समय पर फलित होता है। जैसे- गेहूँ का एक बीज बोकर पौधे के रूप में सैकड़ों हजारो बीजों को तैयार करता है। ऐसे ही समाज रूपी खेत में सहयोग-सहकार-सद्भाव पूर्ण दान कर बोया गया बीज समय आने पर नाना रूपों में फलित होता है। उसे ही हम कालांतर में गुणों का फलित होना कहते हैं।

एक समझदार व्यक्ति कर्म फल सिद्धान्त की इस प्रक्रिया को समझता है। इसके निदान की समझ व्यक्ति को सहज रूप से उदार बनाती है। वह समाजरूपी खेत अपने पास

उपलब्ध समय, श्रम, धन, चक्र, साधन योग्यता, विभूति, प्रभाव या गुणों की संपदा को पुण्य बीज की भांति मुक्त हस्त से बांटता है, बिखेरता है और बोता है। फल को ईश्वर के हाथ में छोड़ कर एक दूरदर्शी किसान की भांति इसके फलित होने के प्रति आश्वस्त रहता है। जिसको फलित होने से वस्तुतः कोई रोक नहीं सकता। यही समझदार, दूरदर्शी इस परिपक्व व्यक्ति की निशानी होती है। जीवन में सच्ची सुख-शांति स्व प्रसन्नता का वह सहज रूप में अधिकारी बनता है।

जीवात्मा दो तरह की संभावनाओं को अपने भीतर समेटे इस विश्व-ब्रह्माण्ड में आती है। एक मार्ग उसे श्रेय का अधिकारी बनाता है तो दूसरा प्रेय से मिलाता है। सही समय पर सही पथ का चयन जीवात्मा का उन्नत शिखर की तरफ ले जाती है तो वहीं गलत पथ का चयन पतन की तरफ अग्रसित करती है। ऐसी ही समर्थ और सृजनोन्मुख आत्मीयता पाने और उसे अपने व्यक्तित्व में आत्मसात् करने की साधना की जानी चाहिए।

सदुद्देश्य की राह पर चलने के लिए विवेक जागरण की आवश्यकता होती है। विवेक के जागते ही सही-गलत का निर्धारण करने की क्षमता का आ जाना है। सद्बुद्धि आ जाने पर यह सोच स्वतः आ जाती है।

संसार में मनुष्य का जन्म न तो उसकी इच्छा से हुआ है और न संसार से विदा होने में उसकी इच्छा का कोई स्थान है। एक निश्चित विधान के अंतर्गत वह आया है और चला जायेगा। जीवन उसे जीना है। इसका कोई विकल्प नहीं है। जीवन कैसे जीना है, यह पूर्णतः उसका चयन होता है। जब वह जो घट रहा है उसे ईश्वर का न्याय मान कर स्वीकार कर ले तो जीवन सहज हो जात है। इस स्थिति में उसका पूर्ण ध्यान अपने कर्म पर केन्द्रित होता है।

मानव जीवन तो अपने आपमें एक महान उपलब्धि है जिससे अन्य योनियों में जी रहे जीव वंचित हैं। ईश्वर ने उसे ऐसी इंद्रियां दी हैं कि जिससे वह पूरे ब्रह्माण्ड की अनुभूति कर सकता है। ऐसे अंग दिए हैं जिनसे वह अद्वितीय सृजन कर सकता है। ऐसी चिंतन शक्ति दी है जिससे सृष्टि के गूढ़ रहस्य अनावृत कर सकता है। उसका तन सकारात्मकता का शक्तिपुंज है। इसकी ऊर्जा परमात्मा की देन मान कर और उसके विधान में रहकर व्यय की जाए तो आनन्द है।

मनुष्य का हित परमात्मा से ज्यादा कोई नहीं जानता। एक वही जानता है किसे कब और क्या देना है?

– डा. रंजना शर्मा
नोएडा

सुख

राम नाम दो अक्षर प्यारे, जीवन के अनमोल रतन।
जिसने ध्याया राम नाम, उसने ही पाया ये धन॥

पाकर योनि लख चौरासी, जीव भटकता है अविनाशी।
तन मन धन के अभिमान में, करता है सब कर्म विनाशी॥
राम नाम दो अक्षर............

यहाँ मिलेगा वहाँ मिलेगा, सुख की चाह में बदहवासी।
देश कर्म सम्बन्ध बदलता, फिर भी न पाता सुख की राशि॥
राम नाम दो अक्षर............

राम कृपा से पुण्य उदय जब, उसके जीवन में है होते।
संत आगमन संत समागम, सत्संग के अवसर हैं आते॥
राम नाम दो अक्षर............

निश्चय सेवा प्रेम समर्पण, सतगुरु के मन को हरषाते।
काल बीतने पर वो साधक, निर्मल कोमल मन को पाते॥
राम नाम दो अक्षर............

फिर आती अनमोल घड़ी वो, सत्‌गुरु मुक्ति का मार्ग बताते।
अपनी पावन करुणा से वो, राम नाम मन में धर जाते॥
राम नाम दो अक्षर............

राम राम बस राम राम, जीवन का हर क्षण जो बनाते।
कर्म धर्म के जाल से बचकर जीवन रहते सुख पा जाते॥
राम नाम दो अक्षर............

– ब्रह्म. राघवेन्द्र चैतन्य
चिन्मय मिशन झाँसी
मो.– 8707209996

देह का भान

ॐ हरि तत् सत्, शिवोऽहम् सोहम्।

परम पूज्य गुरु महाराज ब्रह्मलीन स्वामी श्री शुकदेवानन्द जी को सत्-सत् नमन। आपका आशीर्वाद सदैव हम पर बना रहे। शिवोऽहम्।

हम सब अनुभव करते हैं कि हम जन्मे हैं तो हमारी मृत्यु होगी ही। हमें ऐसा इसीलिए लगता है क्योंकि हम सबका 'मैं' स्थूल देह है। जिस प्रकार कोई मकान यह नहीं समझता कि मैं सुन्दर हूँ, यह नहीं समझता कि मैं पुराना हूँ अपितु उसमें रहने वाला ही इन सभी का अनुभव करता रहता है। मकान की विशेषता का अभिमान उसमें रहने वाले को होता है मकान को नहीं इसी प्रकार इस देह में रहने वाला भी मैं सुविधा-असुविधा का सामना करता रहता है, जैसे घर में पानी टपकने लगे, आंधी में खिड़की शोर करे तो परेशानी होगी। ऐसे ही शरीर की समस्या का सुख-दु:ख मुझे होता है परन्तु हम यह भूल जाते हैं कि मैं शरीर में रहने वाला हूँ।

शरीर में रहने वाले की तीन अवस्थायें रोज होती हैं- जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति। कुछ अवस्थायें कभी-कभी होती हैं। ये अवस्थायें स्थूल शरीर की नहीं होती, स्थूल शरीर की अवस्थायें हैं- बचपन, जवानी और बुढ़ापा एवं जन्म और मृत्यु। इसमें रहने वाले जीव में मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार से जो ज्ञान उत्पन्न होता है, उसे हम चिदाभाष कहते हैं। जैसे सूर्य का रिफलेक्शन शीशे में बनता है, पानी में बनता है। इसी प्रकार जो चेतन तत्त्व, ब्रह्म तत्त्व, आत्म तत्त्व है उसका रिफलेक्शन हमारी मन, बुद्धि में बनता है। यदि मन, बुद्धि न हो तो देह होते हुए भी रिफलेक्शन नहीं बनेगा और जब रिफलेक्शन नहीं बनेगा तो देह का भान नहीं होगा। देह का भान सीधा चेतन को नहीं होता। इसी लिए उस चेतन के लिए कहा गया है कि जो आत्म है उसमें कोई कष्ट नहीं होता। परन्तु यह निर्णय कैसे करें कि आत्मा में कष्ट नहीं होता? इसका उत्तर यह है कि यदि आत्मा रहते हुए भी अन्त:करण बेहोश हो अथवा अन्त:करण सो गया हो तो हमें किसी प्रकार का कष्ट नहीं रहता फिर चाहे डॉक्टर हमें बेहोश करने के पश्चात् कितनी भी चीरा-फाड़ी करे, हमें कष्ट नहीं रहता। इसीलिए ऊपर कहा गया है कि तीन अवस्थायें रोज होती हैं और एक कभी-कभी जैसे बेहोशी रोज नहीं होती।

इसके अतिरिक्त एक अवस्था देहान्त भी होती है। अब प्रश्न यह उठता है कि मूर्क्षा/बेहोशी और देहान्त में क्या अन्तर है? इसमें एक अवस्था में प्राण तो बना रहता है और मन-बुद्धि मूर्छित हो जाते हैं। इसमें उसे कष्ट तभी होगा जब अन्त:करण जागेगा। अत: देह का भान भी सिर्फ आत्मा के रहने से नहीं होगा। यद्यपि आत्मा के बिना देह का भान नहीं होगा। देह का भान तब होता है जब अन्त:करण की जागृत अवस्था होती है। जागृत, स्वप्न, सुषुप्ति ये तीन अवस्थायें सभी की होती हैं, चाहे वह ज्ञानी हो, अज्ञानी हो, गृहस्थ हो अथवा साधु हो।

अब आती है बात देहान्त अवस्था की, तो जब देह में से प्राण निकल जाते हैं और

लौटकर नहीं आते। वह मन, बुद्धि, प्राण निकलकर दूसरे के देह में प्रवेश कर जाते हैं तो उस पुराने वाले देह का अन्त हो जाता है, जिसे हम देहान्त कहते हैं। देह का अन्त होने पर हम कहने लगते हैं कि वह मर गया, परन्तु क्या वह मरा है? नहीं। तो देखा जाये बुद्धिमान व्यक्ति वही है जो यह समझ ले कि वह मरता नहीं है, केवल उसका स्थूल शरीर बदल जाता है।

सभी मनुष्य के पास तीन दृष्टि होती हैं- देह दृष्टि, जीव दृष्टि और तत्त्व दृष्टि। देह दृष्टि में मनुष्य केवल अपने देह के बारे में ही सोचता है, जीव दृष्टि में पाप, पुण्य, मरने के बाद की सोचता है और तत्त्व दृष्टि में मनुष्य को ज्ञात होता है कि वह न तो मरता है और न ही उत्पन्न होता है, केवल देह बदलता है। इसीलिए साधु, सन्तों द्वारा बार-बार कहा जाता है कि ज्ञानी बनो। इसका तात्पर्य किसी सांसारिक प्रतिस्पर्धा में अव्वल आना नहीं है अपितु तत्व दृष्टि से अपने इस शरीर को देखो। एक बार सत्य का ज्ञान हो जाने पर कोई भी तुमको डिगा नहीं सकता क्योंकि ज्ञानी पुरुष मूर्णवत् होकर भजन करता रहता है और उसको मूर्ण समझने वालों को वह मूर्ण ही समझता है।

अतः ज्ञानी मनुष्य बनकर मूर्ण की तरह सत्य को पहचानो तभी देह का भान समाप्त हो सकता है और ईश्वर द्वारा प्रदत्त यह मनुष्य योनि सफल हो सकती है।

शिवोऽहम्।

– वैभव वर्मा

गुरु (1)

दोहा- नाव बनाई शब्द की बहुत किया उपकार।
भव सागर में डूबते लीने जीव उबार॥

दोहा- सुख दाता दुःख भंजना सत्‌गुरु तुमरो नाम।
नाम समोलिक दीजिए भक्ति करूं निष्काम॥

गुरु की छाया में शरण जो आ गया। उसके जीवन में सुमंगल छा गया॥

1. गुरु कृपा तो सबसे बड़ा उपहार है, गुरु है खेवनहार तो बेड़ा पार है,
प्रेम का पावन उजाला छा गया, गुरु की छाया में.............................।

2. वो रमा है आती जाती श्वांस में, वो बसा है प्राण में और विश्वास में,
शान्ति सुख अमृत बरसा गया, गुरु की छाया में.............................।

3. हमको क्या उनको हमारा ध्यान है, गुरु है मेरी आत्मा शिव भगवान है,
धन्य है जिसको यह पद भा गया, गुरु की छाया में.............................।

4. गुरु नहीं है व्यक्ति वह तो एक शक्ति है, मानो अगर आज्ञा तो सच्ची भक्ति है,
प्राण का पंछी बसेरा पा गया, गुरु की छाया में.............................।

– संगीता परिहार

मृग तृष्णा

इस नश्वर संसार में अनेकानेक बार जन्म-मृत्यु के भंवर में गोते खाते हुए हम आज भी विषय भोगों के पीछे भागते फिर रहे हैं। क्योंकि विषयों में आसक्त हमारी इन्द्रियाँ आज भी अन्तश्चेतना के वास्तविक मर्म को जानने में समर्थ नहीं हो सकी। चित्त वृत्तियों के शोरगुल में हम आज भी अपनी आत्मा की पुकार सुनने में असमर्थ हैं। हम आज भी आत्मोपलब्धि के मूल साधन 'ध्यान' के विषय में अनभिज्ञ हैं। ध्यान, आत्मलोक में प्रवेश पाने का मुख्य द्वार है।

सुख पाने की मृग तृष्णा में हम न जाने कितनी बार जन्मे, कितनी बार मृत्यु को प्राप्त हुए परन्तु न तो हमारी इन्द्रियां तृप्त हुईं और न ही हमें आनन्दमयी, सत्यमयी एवं चैतन्यमयी अवस्था ही प्राप्त हो सकी।

रेगिस्तान में शीतल जल की तलाशकी यानि हमारे सुख पाने की चाह भी विषय भोगों में गुमराह हो चुकी है। सुख प्राप्त करने की चाह गलत भी नहीं है, गलत है तो उस सुख को पाने की हमारी गलत चेष्टा। जीवात्मा में आनन्द पाने की चाहत स्वाभाविक है क्योंकि जीवात्मा के अन्दर ही, मृग में कस्तूरी की भांति सत् चित आनन्द स्वरूप परमात्मा का वास है परन्तु हमने अपने आपको अपने मन बुद्धि एवं शरीर को ही सब कुछ मान लिया है।

इसी कारण हमें परमात्मा की उपस्थिति का बोध नहीं हो पा रहा है। जिस भी दिन हमारी आत्मा से हमें मुक्ति मिल जायेगी एवं इस आत्मिक यात्रा के प्रारम्भ होते ही इसे सच्चिदानन्द की प्राप्ति के सभी द्वार खुले मिलेंगे। इस द्वार पर हमें नियमितता एवं निरन्तरता की आवश्यकता होगी। हमारी बाह्य मृगतृष्णा जितनी अधिक कम होगी उतना ही इस अन्तर आत्मा की यात्रा सहजता से कर सकेंगे। हमारे मन व इन्द्रियों की चंचलता तब कम से कम हमें बाधक होगी।

सांसारिक भोग-विलास से हम जितना अधिक दूर होंगे, ईश्वर से हम उतना ही अधिक समीप हो सकेंगे। ध्यान रूपी वायुयान में सवार होकर हम रास्ते के अनेकानेक दुर्गम क्षेत्रों को पार करते हुये अपने गन्तव्य सच्चिदानन्द तक पहुंच सकते हैं।

यही ध्यान का अन्तिम पड़ाव है एवं यही हमारे अन्तर मन की आत्मा जगत यात्रा का गन्तव्य स्थल है। यही जीवों की आत्म में परमात्मा होने परम अनुभूति है और इसी अनुभूति में आनन्द, परमानन्द एवं ब्रह्मानन्द की प्राप्ति है।

– कुमकुम बिसारिया
झाँसी

आरम्भिक साधना पथ

जो प्रकृति दिख रही है, उसका कारण क्या है? क्या मेरा अस्तित्व शारीरिक जन्म से इसकी मृत्यु तक ही है, या इसके परे भी कुछ सत्य है?

ऐसे ही प्रश्नों के उत्तरों की जिज्ञासा एक व्यक्ति को साधक बनाती है। वह यत्र तत्र वेदांत के सिद्धांतों को सुनता है, समझने के प्रयास करता है, इनके वाद विवाद में आनंद लेता है। ब्रह्म ही सत्य है, संसार मिथ्या है, ऐसा शाब्दिक रूप में समझ लेता है।

यहाँ तक सब मधुर है, क्योंकि संसार भी ज्यों का त्यों, और आध्यात्मिक प्रतिष्ठा भी संसार में प्राप्त हो रही है। किंतु आत्म ज्ञान शाब्दिक तो है नहीं, मैं शुद्ध चौतन्य हूँ, ये कहने से मैं वह हो नहीं गया।

किसी स्थान का मानचित्र देखकर, उसके विषय में पढ़कर, उसके बारे में चर्चा करके, हम उस स्थान पर पहुंचे तो नहीं! किंतु निरंतर ब्रह्म चर्चा से, बुद्धि शनैः शनैः शुद्ध होने लगती है, और फिर चलने की भी इच्छा, ईश्वर कृपा से, जागृत हो जाती है।

अब यहाँ से जटिलता शुरू होती है, क्योंकि अब सब हिलने लगता है, जो भी ज्ञान मैं और मेरे से जुड़ा था वो बिखरने लगता है, क्या संसार में कर्म करते रहें, या सन्यास ले लें? किन्तु "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" सब कुछ ब्रह्म ही है तो मैं जहाँ हूँ ब्रह्म के साक्षात दर्शन अभी यहीं हो जाने चाहिए, समस्या कहाँ है? इससे बड़ा विषाद उत्पन्न होता है, न तो संसार के ही रहे और न ब्रह्म के हो पाए।

ये विषाद होना एक योग है, क्योंकि जो चलना शुरू करेगा वही इस विषाद में फंसेगा और इसीलिए श्रीमद्भगवद्गीता का प्रथम अध्याय अर्जुन विषाद योग है। जहाँ से भगवान श्रीकृष्ण ने अर्जुन को मार्ग दिखाया। या दूसरे अर्थों में कहें, जैसे एक सद्गुरु, शरण आये हुये शिष्य को उबारते हैं।

गुरु शरण से साधन पथ चल पड़ता है। किसी सद्गुरु की शरण लें, यम, नियम और गुरु के आदेशों का पालन करें।

ब्रह्म विचार मात्र शब्दों तक न रखें, इस पर चलें और चिदानंद स्वरूप को प्राप्त हों। यही मनुष्य होने की सार्थकता है।

॥ शिवोऽहम् ॥

– शंकरदास

मन्दिर भक्ति के द्वार

मानव-जाति के इतिहास में जीव, परमेश्वर और सृष्टि- ये तीन घटक चिन्तन के विषय बने हुए हैं। उनके परस्पर सम्बन्धों को लेकर संसार में अलग-अलग धर्म और पंथों का उदय हुआ है। मानवी शक्ति के परे इस विश्व का संचालन करने वाली कोई परमशक्ति है और उसकी नम्र भाव से प्रार्थना करने से मनुष्य का कल्याण होगा, सुख-शान्ति मिलेगी तथा उसका उद्धार होगा- ऐसी धारणा हर एक धर्म में पायी जाती है। लोग अपने-अपने धर्म को मान्यता या श्रद्धा के अनुसार उस सर्वोच्च शक्ति के स्वरूप की कल्पना करते हैं और उसके आगे नतमस्तक होते हैं, लेकिन उस शक्ति का स्वरूप अदृश्य होने के कारण उसका दृश्य रूप में प्रतिनिधि भूत स्वरूप या स्थान तय करते हैं और उसकी प्रार्थना, आराधना या पूजापाठ करते हैं। हिन्दू लोग उसको मन्दिर कहते हैं, जहाँ परमेश्वर की मूर्ति की प्रतिष्ठापना की जाती है, मुसलमान मस्जिद कहते हैं, इसाई अपने प्रार्थना-स्थल को चर्च कहते हैं, बौद्धों का मन्दिर बिहार होता है, पारसी लोग अग्यारी कहते हैं, सिखों का गुरुद्वारा होता है। इन सबका बाह्य स्वरूप अलग-अलग होता है तथापि उनकी मूल प्रेरणा एक ही होती है। आज तक संसार में जगह-जगह विविध धर्मों के प्रार्थना स्थल प्रस्थापित हुए हैं।

हिन्दू धर्म की मान्यता है कि परमेश्वर अवतार धारण करते हैं, जैसे स्वयं श्रीकृष्ण भगवान ने भगवद्गीता (गीता 4/7) में कहा है-

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥ (गीता 4/7)

अर्थात्- हे भारत् जब-जब धर्म की हानि और अधर्म की वृद्धि होती है, तब मैं अपने रूप को रचता हूँ अर्थात् प्रकट करता हूँ।

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे॥ (गीता 4/8)

अर्थात्- साधु पुरुषों का उद्धार करने के लिए तथा धर्म की स्थापना करने के लिये मैं युग-युग में प्रकट होता हूँ।

हिन्दू-धर्म में परमेश्वर के अलावा अन्य देवी-देवता भी हैं, लोग अपनी-अपनी श्रद्धा के अनुसार परमेश्वर के या देवी-देवताओं के मन्दिर निर्माण करते हैं। जो जिसकी भक्ति करता है, उसका फल उसको प्राप्त होता है। गीता में भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं-

यान्ति देवव्रता देवान् पितृन्यान्ति पितृव्रताः।
भूतानि यान्ति भूतेन्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम्॥ (गीता 9/25)

अर्थात्– देवताओं को पूजने वाले देवताओं को प्राप्त होते हैं, पितरों को पूजने वाले पितरों को प्राप्त होते हैं, भूतों को पूजने वाले भूतों को प्राप्त होते हैं और केवल मेरी भक्ति करने वाले मुझे ही प्राप्त होते हैं।

मोक्ष प्राप्ति की दृष्टि से ईश्वर भक्ति ही सर्वश्रेष्ठ समझी जाती है। केवल परमेश्वर की भक्ति से ही जीव के कर्म बन्धन कट जाते हैं।

मन्दिर में धर्म कृत्य (प्रार्थना, पूजापाठ, प्रवचन, पारायण, भजन–कीर्तन इत्यादि) किये जाते हैं। मन्दिर शब्द के तीन अक्षर तीन अर्थ व्यक्त करते हैं– 'मं' यानी मंगल, 'दि' दिव्य, 'र' यानी रमणीय। मंदिर श्रद्धालुओं के लिए एक पवित्र स्थान होता है। वह ऐसा स्थान होता है, जहाँ भक्त के मन को धीरज प्राप्त होता है।

श्री चक्रधर स्वामी के अनुसार मनुष्य की जन्मजात प्रवृत्ति 'अधोमति, अधोगति और अधोरति होती है।' (लीलाचरित)। जीव जन्म से ही अज्ञानी और अविद्यायुक्त होता है। जब तक उसके अज्ञान का परदा हटता नहीं, वह मुक्ति नहीं पा सकता। श्री चक्रधर स्वामी ने कह है– 'ज्ञानेविप वैराग्य तें काइ करावें बापेया:।' (आचार 221)। अर्थात्– ज्ञान के अभाव में वैराग्य क्या काम का? भगवान श्रीकृष्ण जी ने कहा है– 'न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।' (गीता 4/38)। अर्थात्– इस संसार में ज्ञान के समान पवित्र करने वाला नि:सन्देह कुछ भी नहीं है। ज्ञान और भक्ति परमेश्वर को पाने के (मुक्ति पाने के) दो सोपान हैं। ज्ञान के बिना भक्ति अन्धी होती है और भक्ति के बिना ज्ञान निरुपयोगी होता है। जीव के उद्धार के लिए दोनों की आवश्यकता है। मन्दिर दोनों को प्रेरणा देने वाले माध्यम होते हैं। मन्दिर लोगों पर भक्ति के संस्कार करते हैं। वहाँ के सन्त–महात्मा उनको ब्रह्मविद्या शास्त्र का ज्ञान भी देते हैं। भगवान् श्री चक्रधर स्वामी कहते हैं– 'परमेश्वर भज्यु: संबंधु वंद्यु।' (आचार 185)। अर्थात्– परमेश्वर भजने योग्य है। उसका (अवतार का) स्पर्श होने वाली वस्तु वन्दनीय है, दूसरे वचन में कहते हैं, 'एथीचेयां संबंधा गेले तेतुले ओटे गोटे आदि करौनी तुम्हां नमस्करणीये की गा: मा येसनी देमती कैसे डावलीलि।' (आचार 186)। अर्थात्– इसका भावार्थ है परमेश्वर के सम्बन्ध में आने वाले (स्पर्शित) ओटे और गोटे (पाषाण) वन्दनी हैं तो फिर चेतना प्राप्त देमती (भक्त के नाम) को कैसे नजरअन्दाज किया? महानुभाव सम्प्रदाय में ऐसी धारणा है कि परमेश्वर अवतार के सम्पर्क में आने वाली वस्तुओं और पाषाणों में परमेश्वर का शक्ति निक्षेप होता है, उसको पंथीय भाषा में 'विशेष' कहते हैं। ये विशेष मन्दिरों में रखे होते हैं, वहाँ उनकी पूजा की जाती है।

अन्य देवताओं के मन्दिरों में भी उनकी (देवताओं की) विधिवत् पूजा–अर्चना की जाती हैं। पूजापाठ करने से उन मूर्तियों में शक्ति जाग्रत् होती है, ऐसी देवता–भक्तों को श्रद्धा होती है, देवता भक्तों को सम्बन्धित देवताओं के फल मिलते हैं।

भारतीय संस्कृति में समाज–प्रबोधन की दृष्टि से मन्दिरों का असाधारण महत्व है, वे

समाज में धार्मिक अधिष्ठान निर्माण करते हैं। लोगों के मन में सौजन्य, समत्व, प्राणिदया, सदाचार, परस्पर प्रेम इत्यादि श्रेयस् (कल्याणकारक) गुण विकसित करते हैं, साथ-साथ शराब, जुआ, चोरी, व्यभिचार, हिंसा इत्यादि प्रेयस् (अकल्याणकारक) दुर्गुणों से रोकते हैं। लोगों को आत्मिक सुख और आत्म कल्याण का मार्ग दिखाते हैं। मन्दिर में जाकर ज्ञान-श्रवण करने से इन्द्रियों के विकार दूर होते हैं। भारत में प्राचीन काल से, राजा-महाराजाओं के जमाने से, गाँव-गाँव में छोटे-बड़े मन्दिर बनाये गये हैं। वे सौन्दर्य, संस्कृति और सदाचार के प्रतीक हैं। कुछ मन्दिर तो शिल्पकला तथा स्थापत्य कला के अद्‌भुत नमूने हैं।

दुर्भाग्यवश आज भौतिक सुख साधनों की खोज के कारण अधिकतर लोग चिरन्तन आध्यात्मिक सुख का रास्ता भूलकर क्षणभंगुर भौतिक सुखों के पीछे भाग रहे हैं, लोगों की रुचि मन्दिरों में कम और सस्ते मनोरंजन के स्थानों में ज्यादा हो रही है। यह प्रवृत्ति व्यक्ति तथा समाज के स्वास्थ्य के लिये घातक है। जो मन्दिर जाते हैं, उनमें भी अधिकतर लोग भौतिक फल पाने की अभिलाषा से जाते हैं, निष्काम भक्ति करने वलाा बिरला ही होता है।

यद्यपि यह सच है कि मन्दिर संस्कृति सम्वर्धन की पाठशालाएँ हैं, परंतु आज विडम्बना यह है कि भारत में कुछ पूजा-स्थलों को मतलबी राजनीतिज्ञों ने कलह और हिंसा के कारण बना दिये हैं। उससे धर्म का उत्थान होने की बजाय हनन हो रहा है। असल में धार्मिक स्थल तो भाईचारे के प्रतीक होने चाहिए। भगवान श्री चक्रधर स्वामी का यह वचन- 'वैरीयांचा देवो झाला तरी काई दगड़े हापौनी फोडावा?' (लीलाचरित्र पूर्व 391)। अर्थात्- क्या शत्रु के देव को (आराध्य दैवत को) पत्थर से तोड़ना चाहिए? कभी नहीं। आज याद करने की सख्त जरूरत है कि हिन्दू धर्म मूलतः अहिंसक और सहिष्णु है, वैसे तो सभी धर्म अहिंसा तथा भाईचारे का ही पाठ पढ़ाते हैं लेकिन अज्ञात अन्धविश्वास और नीयत बिगड़ने के कारण कुछ लोगापें का धर्म के विपरीत आचरण होने लगता है।

कुछ मन्दिरों में या पूजा-स्थलों में भावुक भक्तों के दान से करोड़ों रुपयों का धन जमा हो रहा है। उसका उपयोग अस्पताल, स्कूल, धर्म की शिक्षा, वृद्धाश्रम इत्यादि समाजोपयोगी कामों के लिये होना चाहिए, कहीं-कहीं वैसे काम हो भी रहे हैं, लेकिन कुछ उपासना स्थलों में उस राशि के अपहरण और दुरुपयोग की भी वार्ताएँ आती हैं।

परमेश्वर, धर्म, मन्दिर आदि श्रद्धा एवं आचरण के विषय हैं, संस्कृत का निम्नलिखित श्लोक इस बात का यथार्थ वर्णन करता है-

मन्त्रे तीर्थे द्विजे देवे दैवज्ञे भेषजे गुरौ।

यादृशी भावना यस्य सिद्धिर्भवति तादृशी॥

ईश्वर, तीर्थ, ब्राह्मण, मन्त्र, ज्योतिषी, वैद्य, गुरु इनके प्रति जैसा भाव होता है वैसी सिद्धि प्राप्त होती है। श्रीकृष्ण भगवान् कहते हैं- 'श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं......।' (गीता 4/39)। अर्थात्- श्रद्धावान पुरुष को ही (परमेश्वर का) ज्ञान प्राप्त हो सकता है। भगवान् श्री चक्रधर स्वामी ने कहा है- 'आचरे तयाचा धर्मुः।' (आचार 52) अर्थात्- आचरण करने वाले का ही ६

ार्म होता है, 'धर्मो रक्षति रक्षितः।' अर्थात्– धर्म उसी का रक्षण करता है, जो धर्म का रक्षण (आचरण) करता है। इस सन्दर्भ में निम्नलिखित कथा उद्‌बोधक है–

एक मन्दिर था, उसमें एक पुजारी रहता था। वह रोज परमेश्वर की मूर्ति को स्नान कराता था, धूप-दीप, अगरबत्ती और फूलों-फलों से भगवान की पूजा करता था। पोथी-पुराण पढ़ता था, लेकिन उसके मन में हमेशा मन्दिर के सामने रहने वाली सुन्दर वेश्या के लिये विचार आते थे। उसकी नजर हमेशा वेश्या के शरीर पर घूमती थी, वेश्या के घर आने वाले लोगों से वह द्वेष करता था। उनकी तुलना में खुद को अभागा समझता था। उसका शरीर मन्दिर में और चित्त वेश्या के घर में घूमता था। इसके विपरीत उस वेशय के मन में अपने व्यवसाय के प्रति घृणा थी। उसके मन में हमेशा ईश्वर के ही विचार आते थे, अपनी देह लोगों को समर्पित करते वक्त भी उसका मन ईश्वर स्मरण में खो जाता था। इत्तफाक से पुजारी और वेश्या दोनों की एक साथ मृत्यु हुई। वेश्या को स्वर्ग में जगह मिली, लेकिन पुजारी नरक में डाला गया। इस कथा का तात्पर्य यह है कि मन में अगर ईश्वर और धर्म के प्रति शुद्ध भाव न हों तो बाहरी दिखावे का कोई उपयोग नहीं। ईश्वर अन्तर्यामी है, कोई भी उसको धोखा नहीं दे सकता। सारांश यह है कि श्रद्धा, भाव, ज्ञान, भक्ति और आचरण के बिना धर्म और धार्मिक स्थल (मन्दिर, मस्जिद, चर्च इत्यादि) खोखले हैं।

– आर. एन. उपाध्याय

।। जय श्री कृष्णा ।।

ना बनना है महान, ना बनना है
धनवान। बस प्रभु बना देना मुझे
एक अच्छा इंसान।

साथ प्रभु एक आपका मिल जाए,
ये दास प्रभु कुछ और ना चाहे!

ना स्वर्ग की इच्छा है मुझमें,
ना रहना मुझे है महलों में...
मिल जाए अगर एक कुटिया भी लगा
सकू जिसमें प्रभु का ध्यान!

ना बनना है महान, ना बनना है
धनवान

बस प्रभु बना देना मुझे
एक अच्छा इंसान!

ना भौतिक सुख की इच्छा है,
ना चाहिए मुझे ऐशो आराम!

ना रहे नाराज़गी किसी से मुझे,
ना दिल में नफरत रहे किसी के लिए

बना दे प्रभु ऐसा की मैं,
दुख दर्द में किसी के आ जाऊं काम।

ना बनना है महान, ना बनना है
धनवान, बस प्रभु बना देना मुझे
एक अच्छा इंसान!

– नेहा ठाकुर

ऑक्सीजन - प्राणवर्द्धक वायु या प्राणहर्ता वायु

स्वयं को समझने की सबसे सरल परिभाषा जो आज प्रयोग में लायी जाती है, वह है- तन, मन और धन का संयोग अर्थात् स्वयं = तन + मन + धन।

लेकिन आज की विषम परिस्थितियों में इन तीनों का सही संयोजन बना पाना बहुत मुश्किल है। क्यूंकि तीनों हिस्से एक दूसरे से जुड़े हैं। एक अच्छे तन में ही अच्छा मन निवासित हो पाता है, वहीं एक अच्छे मन के अंदर ही धनोपार्जन की क्षमता होती है; एक का सन्तुलन बिगड़ा नहीं कि दूसरा धराशायी।

तन के बहुतायत प्रकार होते हुए भी, अगर हम सिर्फ स्थूल तन की ही चर्चा करें, तो पायेंगे कि स्थूल शरीर में सबसे महत्वपूर्ण हमारे प्राण हैं जो निकले नहीं कि हम श्री .... कुमार, से एक बॉडी में परिवर्तित हो जाते हैं और जब प्राण रहें तो हम नदियां और समुंदर ही नहीं, आकाश के मस्तक पर भी लहरा पाते हैं।

अब अगर हम शरीर के सबसे प्रमुख भाग अर्थात् प्राणों की चर्चा करें तो पायेंगे कि हमारा आधुनिक ध्यान सिखाता है कि प्राण और कुछ नहीं बल्कि ऑक्सीजन है जो आप अपने नथुनों से ग्रहण करते हैं और आपको ऑक्सीजन न मिले तो आपका प्राणांत हो जाएगा।

ऋग्वेद का सबसे रहस्यमयी सिद्धांत "विपरीतता का सिद्धांत" हमें सिखाता है कि सत्य के ज्ञान के लिए असत्य का ज्ञान होना अति आवश्यक होता है, नमक के स्वाद के बिना मीठे स्वाद का ज्ञान भ्रम मात्र है, स्वर्ग की प्राप्ति के लिए नरक से बचने का मार्ग और अन्धकार का, प्रकाश प्राप्ति के लिए महत्व (आधुनिक विज्ञान ये सिद्ध कर चुका है कि अंधकार और कुछ नहीं बल्कि प्रकाश की अधिकता भर है); ये सारे उदाहरण तो मात्र 2-4 संख्या में हैं लेकिन क्या आपने सोचा है कि प्राणों की चर्चा में इस सिद्धांत की क्या भूमिका है?

दरअसल प्राण ऑक्सीजन नहीं हैं बल्कि ऑक्सीजन तो सिर्फ एक माध्यम मात्र है प्राणों को धकेलकर सारे शरीर में संचालित करने का। प्राण हमारे शरीर में 72000 नाड़ियों के माध्यम से प्रवाहित होते हैं तथा वो किसी माइक्रोस्कोप से कोई डॉक्टर नहीं देख सकता है तो आधुनिक विज्ञान ने बिना झिझक के ऑक्सीजन को प्राणों की संज्ञा दे दी और देखा-देखी में हम भारतीय भी भ्रमित हो गए इस ऑक्सीजन की अविद्या में।

प्राणों के बारे में हम आगे समझें उससे पहले ऑक्सीजन के मानव शरीर के असर की

आप पड़ताल करना चाहें तो गूगल जैसे किसी भी सर्च इंजन पर बस "ऑक्सीडेशन प्रोसेस इम्पैक्ट ऑन ह्यूमन बॉडी" डालियेगा, प्राप्त रिजल्ट्स आपको चौंका सकते हैं क्यूंकि मानव शरीर के क्षय का प्रमुख कारण ऑक्सीडेशन है, यही शरीर का क्षय आपके स्थूल शरीर के नष्ट होने या मृत्यु का कारण होता है। ऑक्सीजन ही मानव शरीर में ऑक्सीडेशन की प्रक्रिया करता है, जब मनुष्य सांसों के माध्यम से कथित जीवनदायिनी ऑक्सीजन को ग्रहण करते हैं।

अब तक की जानकारी सिर्फ आधी है, आप विचलित न हों क्यूंकि हमारे ऋषि मुनियों ने इस शरीर के विज्ञान को करोड़ों साल पहले समझ लिया था और आदियोगी भगवान शंकर ने पार्वती को दिए उपदेशों में जो "शिव संहिता" के रूप में उपलब्ध है , बताया है कि तंत्र अर्थात् तन का विज्ञान और वो कहते हैं कि ऑक्सीजन को आप सिर्फ प्राणों को धक्का देने के उद्देश्य से ग्रहण करें लेकिन ऑक्सीजन ग्रहण करने के बाद आप उस ऑक्सीजन के दवाव से प्राणों को सारे शरीर में संचालित करें फिर ऑक्सीजन को शरीर से बाहर छोड़ दें। इस प्रक्रिया को पूरक (सांस अन्दर लेना), कुम्भक (सांस रोकना) तथा रेचक (सांस बाहर छोड़ना), यानि तीन हिस्सों में बांटा गया। ध्यान देने योग्य है कि चक्र 10-20-10 सेकंड्स में संचालित करने का प्रयत्न करें। प्राणों के सही संचालन से शारीरिक रोग व्याधियाँ दूर होती हैं और शरीर स्वस्थ होता है।

हमारे ऋषि-मुनि कुम्भक का अभ्यास करते हेतु, दो सांसों के बीच की समय सीमा को बढ़ाते जाते थे और ऑक्सीजन को ग्रहण करने की आवश्यकता पर चतुरता से नियंत्रण प्राप्त कर लेते थे और अपनी इच्छानुसार शरीर का त्याग करते थे।

कछुआ दो सांसों के बीच लगभग 4 मिनट का अंतराल रखता है और लगभग 400 वर्ष की आयु प्राप्त करता है, हाथी लगभग 1 मिनट का अंतराल रखता है और लगभग 100 वर्ष की आयु प्राप्त करता है। वहीं एक श्वान अपनी लम्बी जीभ निकालकर तीव्रता से सांस लेता है और 7-10 वर्ष की आयु को प्राप्त करता है।

आवश्यकता है आज फिर से अपनी भूली-बिसरी वैदिक परम्पराओं के उत्थान की और ये तभी संभव है जब आप और हम दोनों मिलकर अपनी अगली पीढ़ी को इस अनमोल वैदिक परम्परा से अवगत करायें। जिससे वो जान सके कि आधुनिक विज्ञान वैदिक ज्ञान के पासंग भी नहीं है।

– अनुराग चतुर्वेदी
झाँसी

भारतीय संस्कृति के प्रमुख तत्व

1. प्राचीनता एवं चिरस्थायित्व– भारत की सभ्यता के अवशेष चार लाख से दो लाख ईसा पूर्व के मध्य जाने वाले प्रागैतिहासिक युग से ही प्राप्त होते हैं। भारत की प्रथम संस्कृति सिन्धु–घाटी की संस्कृति मानी जाती है। भाषा, धर्म, कला, साहित्य, सामाजिक व्यवस्था आदि दिशाओं में आदर्श क्रिया–कलाप एवं रचनात्मक जीवन की गतिविधियाँ पाँच हजार वर्षों से एक ही मार्ग पर चले आ रहे हैं। वेद, उपनिषद्, रामायण, महाभारत, पुराण, स्मृतियाँ, भगवद् गीता, आदि भारतीय विचारों के आज तक आधार स्तम्भ हैं। विश्व में चीन एवं भारत की संस्कृतियाँ ही ऐसी है जो कि अबाध रूप से आवश्यक परिवर्तन के साथ आज तक स्थायी है। लोकमान्य बालगंगाधर तिलक ने ज्योतिष के आधार पर वेदों का समय निर्धारित करते हुए कहा है कि संहिताओं का निधन चार हजार पाँच सौ ईसा पूर्व में हुआ था और उससे पहले दो सौ वर्षों मे सारे मंत्र रचे गये थे। प्राचीनता के अन्तर्गत अनेक तत्वों को गिनाया जा सकता है, यथा विचार स्वतंत्रता, धर्म प्रधानता, आत्मज्ञान, सदाचार, समन्वय आदि। इसी संस्कृति के अवशेष आज भी चीन, जापान, बाली, कम्बोडिया इत्यादि अनेक देशों में सुस्पष्ट देखे जा सकते हैं।

2. आध्यात्मिकता– आध्यात्मिकता के अन्तर्गत नश्वर शरीर का तिरस्कार, परलोक के प्रति आग्रह, सत्य, अहिंसा, तप आदि आध्यात्मिक मूल्यों को अधिक महत्व देना, आवागमन की भावना, ईश्वरीय न्याय में विश्वास आदि बातें आती हैं। हमारे यहाँ की संस्कृति तपोवन की संस्कृति रही है, जिसमें विस्तार ही विस्तार था–**प्रथम प्रभात उदय तव गगने, प्रथम सामरव तव तपोवने।** इस विस्तार के वातावरण में आत्मा का संकुचित रूप नहीं रह सकता, इसी के अनुकूल आत्मा का सर्वव्यापक विस्तार माना गया है और यह उद्‌घोष किया गया है–**आत्मवत् सर्वभूतेषु यः पश्यति स पंडितः।** हमारे यहाँ के मनीषी इसी मान्यता से अभिप्रेरित होकर यह मंगल कामना करते है–

सर्वे भवन्तु सुखिनः, सर्वे सन्तु निरामयाः,
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःख भागभवेत्।

भारतीय संस्कृति की यह आध्यात्मिकता मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार से परे है। यह इन सबसे परे आत्मा के साक्षात् अनुभूति में विश्वास करती है–

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः। मनसस्तु परा बुद्धियों बुद्धेः परतस्तु सः।

3. धर्म वैशिष्ट्य– धर्म का सीधा अर्थ है– समाज या व्यक्ति को धारण करना। समाज या या प्रजा की धारणा धर्म से ही होती है, ऐसा महाभारत में निर्दिष्ट है। परन्तु विभिन्न धर्मों में प्रायः विरोधिता देखी जाती है जो वस्तुतः धर्म न होकर कुधर्म की श्रेणी में आता है। उपर्युक्त आध्यामिकता का यह परिणाम है कि एक धर्म दूसरे धर्म का आदर करे, सहिष्णुता की भावना का परिचय दे। इसी आशय से महाभारत में स्पष्ट उल्लेख है–

धर्मो यो बाधते धर्म न स धर्मः कुधर्म तत्। अविरोधी तु यो धर्मः स धर्मः सत्यविक्रम।।

4. अवतारवाद– उपनिषद् साहित्य में 'द्वै ब्रह्मणी वेदितव्ये' अर्थात् दो ब्रह्म भारतीय संस्कृति में स्वीकृत हैं। (1) निर्गुण (2) सगुण, इस आस्था के अनुरूप भारतीयों का यह दृढ विश्वासं है कि अन्ततः संसार में धर्म की स्थापना तथा अधर्म के विनाश हेतु समय-समय पर ईश्वर मनुष्य रूप में इस पृथ्वी पर अवतार लिया करता है। गीता में इसका सुस्पष्ट उल्लेख है-

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत। अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्।।
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्, धर्म संस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे।।

धर्म के रक्षार्थ एवं अधर्म के विनाशार्थ ईश्वर के मत्स्य, कूर्म, वराह, नृसिंह, वामन, परशुराम, राम, कृष्ण, बुद्ध और कल्कि अवतार ये दस अवतार माने गये हैं। इन दस अवतारों में जनमानस को सर्वाधिक प्रभावित करने वाले दो ही अवतार स्वीकृत हैं– राम और कृष्ण। भारत 'वासी' अपने आपको राम और कृष्ण का वंशज कहने में गर्व का अनुभव करते हैं।

5. महापुरूषों के प्रति श्रद्धा– जिन महापुरूषों, ऋषियों, मुनियों ने देश और जाति का हित सम्पादन किया है उनके प्रति भारतवासी श्रद्धा से अवनत रहता है और उनके आदर्शो को मानने में अपना हित समझता है। वैदिक साहित्य **में** सुस्पष्टतः उपविष्ट है–

मातृदेवो भव, पितृदेवो भव, आचार्यदेवो भव, स्वाध्यायान्मा प्रमदः।

अर्थात् माता-पिता और गुरू को देवता मानो और इसी कोटि में स्वाध्याय की गणना करो, क्योकि स्वाध्याय के बिना ऐसी संस्कृति का बोध ही नहीं हो सकेगा। इसी मान्यता और अवधारणा के अनुरूप धर्मशास्त्र में उल्लेख है–

अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः। चत्वारि तस्य वर्धन्ते आयुर्विद्या यशो बलम्।।

6. वर्णाश्रम व्यवस्था– भारतीय समाज के विकास एवं संगठन के मूल में वर्ण एवं आश्रम व्यवस्था विशेष योगदान रहा है। वर्ण व्यवस्था में चारों वर्णो **ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य** एवं **शूद्र** का स्थान नियत था। समाज के इन चारों अंगों का-सामाजिक व्यवस्था के सुचारू रूप से सम्पादन हेतु– विधान किया गया है। इस व्यवस्था का उल्लेख ऋग्वेद के पुरुष सूक्त में प्राप्त होता है, यथा– **ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद बाहूराजन्यः कृतः। उरुतदस्य यद्वैश्यपदभ्यां शूद्रो अजायत।।** भाव यह है कि उक्त चारों वर्णो की उत्पत्ति विराट् पुरूष के विभिन्न अंगों से हुई है। ब्राह्मण की उत्पत्ति मुख से, क्षत्रिय की बाहुओं से, वैश्य की उत्पत्ति जंघाओं से और शूद्र की उत्पत्ति उनके चरणों से मानी गयी है। गीता में स्वयं श्रीकृष्ण जी ने संसार में गुणकर्म के आधार पर चार वर्णो के विधान का उल्लेख करते हुए कहा है–

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टंगुणकर्मविभागशः। तस्यकर्त्तारमपि मां विदध्यकर्त्तारमव्ययम्।।

वर्ण व्यवस्था के मूल में जहाँ सामाजिक व्यवस्था की भावना निहित थी, वहाँ आश्रम

व्यवस्था का उद्देश्य व्यक्तिगत जीवन था। मानव जीवन की समृद्धि हेतु चार आश्रम- ब्रह्मचर्य, गृहस्थ. वानप्रस्थ, और संन्यास का विधान किया गया। मानव का जीवन सौ वर्षों का मानकर इसे 25-25 वर्षों के अन्तर से चार आश्रमों में विभक्त किया गया। जीवन के चार पुरुषार्थों (धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष) की प्राप्ति भी इन्हीं आश्रमों द्वारा सम्भव थी। प्राचीनकाल में वर्ण तथा आश्रम व्यवस्था की रक्षा करना राजा का कर्तव्य माना जाता था। इसी आशय से तुलसी ने लिखा है-

बरनाश्रम निज-निज धरम, निरत वेदपथ लोग।
चलहिं सदा पावहिं सुखहिं, नहिं भय सोक न रोग।।

7. बाह्य एवं आन्तरिक शुद्धि- भारतीय संस्कृति में भीतर एवं बाहर, दोनों की शुद्धि को महत्व दिया गया है। शौच को धर्म के दस लक्षणों में माना गया है। हमारे यहाँ का सिद्धान्त है कि जिस मन का प्रभाव बाहरी चीजों पर पड़ता है उसी प्रकार बाहरी चीजों का असर मन पर पड़ता है। मन की शुद्धि को प्रधानता इसलिए दी गयी है, क्योंकि विषयों को ग्रहण में संकल्प-विकल्प का कारक मन ही है। इसीलिए शास्त्रवाक्य है- **मनः पूतं समाचरेत्।** परन्तु इसका आशय यह नहीं है कि बाह्य शुद्धि का महत्व नहीं है। बाहरी शुद्धि में नहाने, कपड़ों की धुलाई, सफाई, स्थान भोजन की सफाई आदि बातें आ जाती हैं। शरीर के अंगों की शुद्धि जल से होती है और मन की शुद्धि सत्य से होती है-

उद्भिर्गात्राणि शुद्धयन्ति मनः सत्येन शुद्धयति।

8. समन्वय भावना- आत्मा की सर्वव्यापकता एवं एकता के आधार पर हमारे यहाँ अनेकता में एकता देखी गयी है। इसलिए यहाँ धर्म परिवर्तन को विशेष महत्व नहीं दिया गया है। हमारे यहाँ की प्रवृत्ति सभी धर्मों को समान रूप से आदर देने की रही है। कहा गया है-

सर्वदेवनमस्कारः केशवं प्रति गच्छति।

सभी देवताओं को नमस्कार करना, केशव के ही प्रति जाता है। महिम्न-स्तोत्र में कहा गया है कि अपेक्षित लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए लोग अपनी-अपनी रूचि के अनुसार टेढ़ा और सीधा रास्ता स्वीकार करते हैं, किन्तु तुम्ही (परतत्व रूप ब्रह्म) उसकी पहुँच के निर्दिष्ट स्थान हो। जैसे सभी नदियाँ समुद्र में पहुँचती है-

रुचीनों वैचित्र्यादजुकुटिलनानापथजुषां नृणामेको गम्यस्त्वमसिपयसामर्णव इव।।

इसी आशय से यह भी विदित है

यं शैवाः समुपासते शिव इति ब्रह्मेति वेदान्तिनोः,
बौद्धा बुद्ध इति प्रमाणपटवः कर्तेति नैयायिकाः।
अर्हननित्यथ जैनशासनरताः कर्मेति भीमांसकाः,
सोऽयं यो विद्धातु वांत्रिछतफलं त्रैलोक्यनाथोहरिः।।

9. उत्सव प्रियता– उत्सवप्रियता भारतीयों के प्रकृति प्रेम और उनकी धार्मिकता का मधुर परिणाम है। भारतीयों में अन्य जातियों की अपेक्षा सामूहिक भावना का अपेक्षाकृत अभाव-सा रहा है। उनके जीवन में पारिवारिकता और उसमे सम्बद्धता अधिक है, किन्तु उत्सव और पर्व इस कमी को पूरा कर देते हैं। जितने उत्सव और पर्व भारतीय संस्कृति में है, उतने अन्यन्त्र नहीं। तीर्थ, गंगा स्नान, होली, दीपावली, रक्षाबन्धन, मेले आदि भारतीय जीवन में सामाजिकता के साथ आध्यामिकता की वृद्धि कर देते हैं। पारिवारिकता की अपेक्षा सामाजिकता श्रेष्ठ है और सामाजिकता की अपेक्षा आध्यात्मिकता उत्तम और उदात्त है। हमारे कुछ पर्व प्रकृति से भी सम्बन्धित हैं। जैसे– दीपावली, शरद ऋतु का और होली, बसन्त का उत्सव है। रामनवमी, जन्माष्टमी आदि अवतारों और महापुरूषों के जीवन में सम्बन्ध रखते हैं। इस सन्दर्भ में गीता को उदधृत करना प्रासंगिक होगा– **ऋतुनां कुसुमाकर।**

10. विश्व बंधुत्व– वैदिककाल से ही भारतीय हृदय सार्वजनीन भावनाओं के संस्कार से भावुक एवं उदार बना हुआ है। एक तरफ वैदिक ऋषि कहते हैं– **कृण्वन्तो विश्वमार्यम्** तो दूसरी और उसके हृदय में सभी के सुख की उतनी ही चिंता मिलती है, जितनी विश्व की अन्य किसी भी संस्कृति में नहीं है। भारतीय ऋषियों ने विश्व को मानवों के सुख की नित्य प्रति प्रार्थना को अपनी संध्या का अंग बनाया है।

11. विविधता में एकता– भारत के प्रत्येक प्रदेश को खान–पान, रहन–सहन, वेश–भूषा, धर्म, भाषा आदि विभिन्नताओं को आधार मानकर प्रायः यह कहा जाता है कि भारतवर्ष एक भौगोलिक अभिव्यक्ति मात्र है, परन्तु जलवायु जाति, धर्म, भाषा आदि में विभिन्नता होते हुए भी भारत की मौलिक एकता को सहज स्वीकार किया गया है। इस भौगोलिक एकता को दृष्टिगत रखते हुए ही विष्णु पुराण में कहा गया है–

उत्तरं यत् समुद्रस्य हिमाद्रेश्चैव दक्षिणं। वर्षतद्भारतं नाम भारती यत्र संततिः।।

भारत की आध्यात्मिकता में सांस्कृतिक एकता के चिह्न सुस्पष्ट देखे जा सकते हैं, क्योंकि प्रत्येक सनातन हिन्दू स्नान करते हुए कहता है–

गंगे च यमुने चैव गोदावरि सरस्वती। नर्मदे सिन्धुकावेरि जलेऽस्मिन संनिधिं कुरु।।

इस प्रकार सुस्पष्ट है कि भारत वर्ष का दृष्टिकोण एक नदी तक नहीं, भारत की सभी नदियों तक विस्तृत है। भगवान शंकराचार्य द्वारा स्थापित चारों मठ भारत को एक सांस्कृतिक सीमा में बांधने का प्रयत्न है। धार्मिक विभिन्नताओं के होते हुए भी हिन्दू, मुसलमान, पारसी, ईसाई आदि कतिपय आर्थिक एवं राजनीतिक बन्धनों से जुड़े हैं। इन सब के मूल में सांस्कृतिक एकता या आध्यात्मिकता है। यही लक्षित कर विवेकानन्द ने कहा था कि भारतीय राष्ट्र का अस्तित्व तब तक रहेगा जब तक ये अपनी आध्यात्मिकता का त्याग नहीं करेंगे।

प्राचीन भारतीय साहित्य एवं अभिलेखों में सार्वभौम सम्राट् की कल्पना एवं ऐतिहासिक युग में अश्वमेध यज्ञ की धारणा राजनैतिक जीवन में एकता की भावना के प्रयास रहे हैं। राष्ट्रीय

एकता की भावना ने **जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी** जैसे उद्गारों को जन्म दिया। इस प्रकार भारतीय संस्कृति भारत की आत्मा है। भारतीय संस्कृति की कहानी एकता व समन्वयवाद की कहानी है। इसकी उपर्युक्त विशेषताएँ मानवतावादी दृष्टिकोण की परिचायक है, इसीलिए भारतीय संस्कृति की प्रशंसा करते हुए डा. इकबाल ने कहा था –

कुछ बात है कि हस्ती मिटती नहीं हमारी।

12. राष्ट्रीयता और देश प्रेम– राज प्रकृति से 'ट्रन, ठक् तथा तल्' प्रत्ययों की योजना करने पर राष्ट्रीयता शब्द निष्पन्न होता है। जिसका अर्थ है– (राष्ट्रे भवः च) राज्य या देश से सम्बन्ध रखने वाला भाव।

यह आद्य सांस्कृतिक तत्व है, जिसके संकेत वैदिक साहित्य, लौकिक साहित्य तथा आधुनिक हिन्दी साहित्य में उपलब्ध होते हैं। इस विषय में कुछ प्रमाण है–

1. **व्याचिष्टे बहुपथ्ये स्वराज्ये।**
2. **अपि स्वर्णमयी लंका न मे रोचते लक्ष्मण।**
   जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी।।
3. **सम्पूर्ण देशों से अधिक इस देश का उत्कर्ष है। उसका कि जो ऋषि भूमि है। वह कौन? भारत वर्ष है।**
4. **अरुण यह मधुमय देश हमारा।**

– डा. अनिल कुमार दुबे

बुन्देलखण्डी आषाढ़ गीत

अषढ़ा लागे हो अषणा लागे रिमझिम परे फुहार।
नौनी लागै पुरवइयारे सुखी भयो संसार
घर आंगन सब गीले भये होन लगी छौनार
मगरिन – मगरिन चढ़े लौटइया, छान रहे समार
कइयक छत्तन चढ़ी, गृहिणी रही चारऊ होर निहार
कइ यक छत्ता लैके चलै सब दिन रहै जे हार
देवी देवता पूजै लगी मेघन करै जुहार
आज वर्ष जाव मोरे हार में तुमसे करै गुहार।

नई नवेली कारी बदरिया कारी बदरिया सारी लागै रे लौंका केवल खाय
आज वर्ष कनवज देश में मोरे पिया लौट घरै आ जाय
चढ़ा अषाढ़ गगन घन गाजा, बारह मासा में।

पुरुषोत्तम मास

हम सभी को प्रत्येक वस्तु अधिक चाहिए होती है। चाहे वह पैसा हो, खुशियां हों, उम्र हो। इसी अधिक का एक सम्बन्ध मास एवं महीने से भी है।

हिन्दू काल गणना के अनुसार हर तीन वर्ष में एक अधिक मास आता है। जिसे अधिक मास, मल मास या पुरुषोत्तम मास कहते हैं। हर साल सूर्य वर्ष एवं चन्द्र वर्ष में लगभग दस दिन का अन्तर रहता है। यह अन्तर तीन साल बाद एक महीने का होता है। इसीलिए हिन्दू पंचांग अनुसार प्रत्येक तीसरे सल में इस अन्तर को सन्तुलन करने के लिए एक माह अतिक्ति होता है, जिसे अधिक मास कहते हैं।

क्यों कहते हैं मल मास?– ज्योतिष शास्त्र के अनुसार सूर्य के एक राशि से दूसरी राशि में जाने की प्रक्रिया को संक्रांति कहा जाता है। सूर्य देव लगभग हर माह में अपनी राशि परिवर्तित करते हैं। जिस माह में सूर्य राशि परिवर्तित नहीं करते, उस माह को मल मास कहा जाता है।

संक्रांति रहितो मासः अधिमासः।

कोई भी संक्रांति नहीं होनेके कारण इस अधिक मास में शुभ कार्य वर्जित होते हैं। इसलिए इसे मलमास कहते हैं।

कैसे पड़ा मल मास का पुरुषोत्तम नाम?– पौराणिक कथा के अनुसार मलिन होने के कारण सभी देवताओं ने इस मास का स्वामी बनने से इंकार कर दिा। इस मास की देवी दुःखी होकर भगवान विष्णु के पास गई और उनसे प्रार्थना की। विष्णु जी ने इस माह की प्रार्थना से प्रसन्न होकर इसे स्वीकार किया और इसके स्वामी बने। भगवान ने अपने सभी गुण और वरदान देने की शक्ति इस माह को प्रदान की और इसे अपना नाम भी दिया। तभी से इस माह को पुरुषोत्तम मास कहते हैं।

जो कोई भी इस माह में पूजा-पाठ, तपस्या आदि करते हैं, उनको वरदान देने की शक्ति इस माह के पास भगवान के समान है। इस माह की महिमा को जानकर सभी श्रद्धालु जन भज़न, कीर्तन, व्रत-उपवास, तपस्या आदि में संलग्न रहते हैं। यह मास हर व्यक्ति के लिए तन-मन से पवित्र होने का समय होता है।

इस वर्ष अधिक मास लगने से सावन दो महीने का होगा। 18 जुलाई 2023 से 16 अगस्त 2023 तक पुरुषोत्तम मास रहेगा।

4 जुलाई 2023 से 17 जुलाई 2023 तक शुद्ध श्रावण कृष्ण पक्ष रहेगा।

17 अगस्त 2023 से 31 अगस्त 2023 तक शुद्ध श्रावण शुक्ल पक्ष रहेगा।

ऐसे में सावन के महीने में भगवान आशुतोष की विधि विधान से पूजा कर भगवान भोलेनाथ को प्रसन्न कर उनसे अपनी जीवन यात्रा सार्थक बनाने के लिए प्रार्थना कर सकते हैं।

पुरुषोत्तम मास में किए गए धार्मिक कार्यों फल; कार्तिक माह की अपेक्षा हजारों गुना है। सभी माह मिलकर भी पुरुषोत्तम मास की बराबरी नहीं कर सकते।

भगवान कहते हैं कि- संक्रांति से रहित मास में मेरे लिए व्रत, अनुष्ठान आदि करना चाहिए क्योंकि उसका मैं ही देवता हूँ। यह महीना पुरुषोत्तम संज्ञक है, इसीलिए इस माह को पुरुषोत्तम मास कहना अधिक उत्तम रहता है।

इस पूरे मास में साधक अपने प्रयास से भौतिक एवं आध्यात्मिक निर्मलता प्राप्त करता है। अध्यात्म में बढ़ने के लिए यह श्रेष्ठ समय होता है। इस माह की महिमा को जानकर भक्तजन अपने-आपको भ्ज्ञगवान के प्रति पूर्णतया समर्पित कर देते हैं।

– गार्गी चैतन्य
चिन्मय मिशन, सतना

गुरु (2)

दोहा- भूप अनेक भये पृथ्वी पर, रूप तेज गुन धाम।
किसके संग गई यह वसुधा, मिट गये नाम निशान॥

दोहा- आये हैं तो जायेंगे राजा रंक फकीर।
एक सिंहासन चढ़ चले, एक बंधे जंजीर॥

दोहा- काल करै सो आज कर, आज करै सो अब।
पल में प्रलय होयेगी, बहुरि करेगा कब॥

अब तू भजन कर भाई रे – तेरी बीती उमरिया-3

1. त्यागी गुरुओं की संगत भारी, कर सतसंग और जग की भलाई,
नैकी यही सुख दाई रे, तेरी बीती उमरिया-3
2. पाप ने तुझको बहुत ही सताया, दुःख दरिद्रता का दास बनाया,
नाव भंवर में फंसाई रे, तेरी बीती उमरिया-3
3. पाप की गठरी सिर से पटक दे, लोक लाज से बाहर निकल ले,
गुरु की पकड़ो कलाई रे, तेरी बीती उमरिया-3
4. लाखों जतन तू कितने कर ले, बिन गुरु के तुम फिरोगे भटकते,
इसी में तेरी भलाई रे, तेरी बीती उमरिया-3

– संगीता परिहार

सत्गुरु आरती

मिल कीजे सत्गुरु आरती। मिल कीजे।
जिनकी चरण कमल रज सुन्दर,
भव दु:ख सकल निबारती।
मिल कीजे सत्गुरु आरती। मिल कीजे।

दया से जिनकी द्वैत दूर हो,
मन की माया टारती।
मिल कीजे सत्गुरु आरती। मिल कीजे।

वाणी अमृतमय सुन जिनकी,
बुद्धि ब्रह्म को धारती।
मिल कीजे सत्गुरु आरती। मिल कीजे।

पाकर के विज्ञान ज्ञान को,
पूर्ण शान्ति विस्तारती।
मिल कीजे सत्गुरु आरती। मिल कीजे।

गुरु अविनाशी घट–घट वाशी,
दुनिया तुम्हें पुकारती।
मिल कीजे सत्गुरु आरती। मिल कीजे।
मिल कीजे सत्गुरु आरती। मिल कीजे।

पाठकों से अनुरोध

वेदान्त आश्रम के समस्त भक्तों से अनुरोध है कि धार्मिक विषयों पर लेख या कविता, लिखने वाले नव–रचनाकार अपनी रचनाओं को विश्वम्भरानन्द ज्ञान सरिता पत्रिका में छपने हेतु भेज सकते हैं। उचित रचनाओं को पत्रिका में स्थान अवश्य दिया जायेगा। रचनायें सुलेख में लिखी हों या फिर टाइप कराकर 10 जनवरी 2024 तक अवश्य भेज दें। सधन्यवाद।

– सम्पादक

लेख व्हाट्सएप नं. : 9415503668 तथा 9455422522 पर भी भेज सकते हैं।

ब्रह्मलीन परमपूज्य श्रद्धेय 1008 स्वामी शुकदेवानन्द जी महाराज

जन्म-चतुर्दशी ज्येष्ठ शुक्ल सं. 1991
(15 जून 1934)

ब्रह्मलीन-सप्तमी अगहन शुक्ल सं. 2077
(21 दिसम्बर 2020)

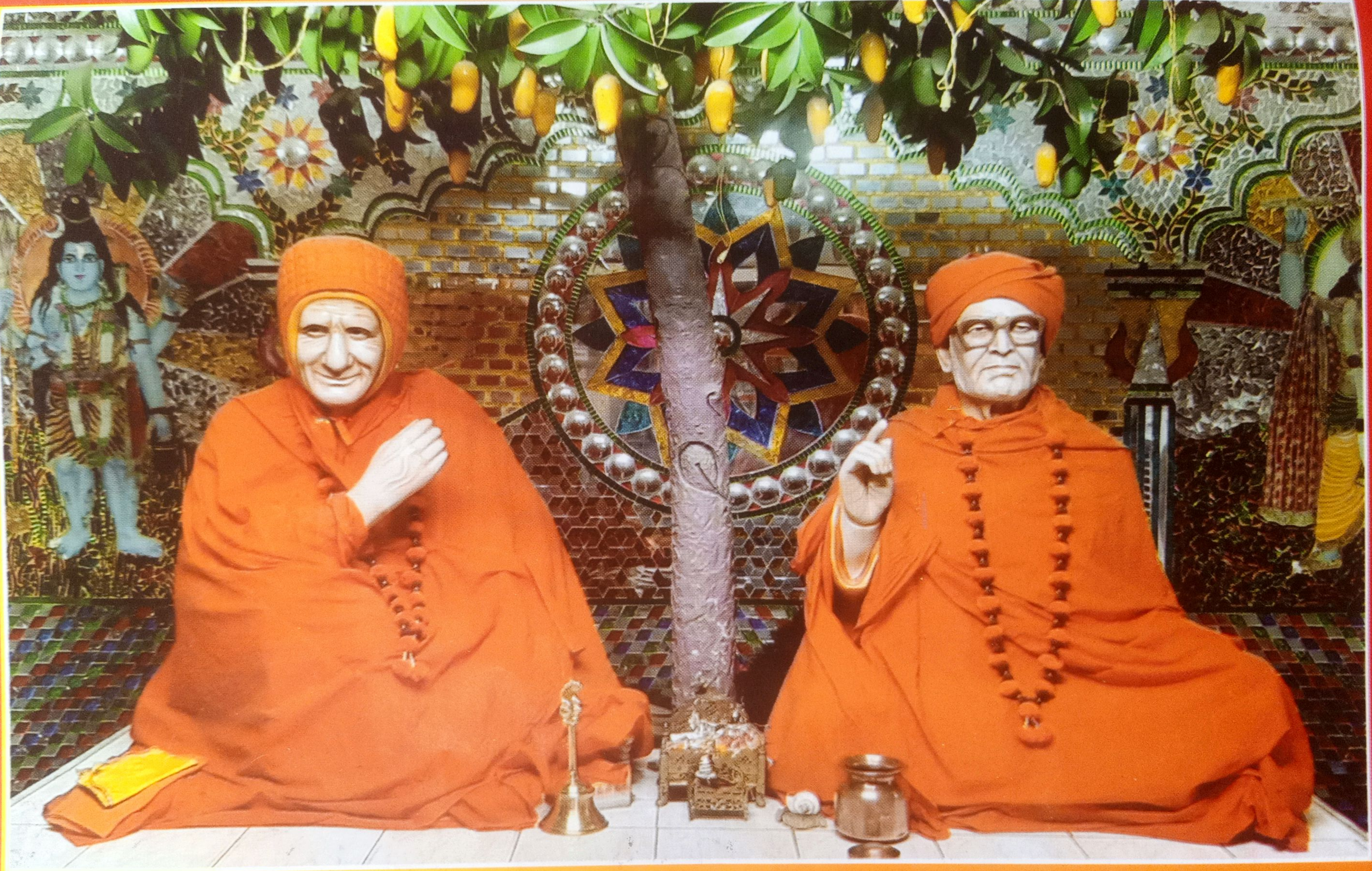

अनन्त श्री विभूषित श्री श्री 1008 श्री स्वामी अखण्डानन्द जी महाराज परमहंस

अनन्त श्री विभूषित श्री श्री 1008 श्री स्वामी विश्वम्भरानन्द जी महाराज परमहंस